वेद प्रवेशिका

लेखक
श्री गुरुदत्त एम० एस-सी
एवं
शुचिव्रत लखनपाल
एम० ए०, एम० ओ० एल०

हिन्दी साहित्य सदन
नई दिल्ली-05

विषय-सूची भाग-2

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

विषय-सूची भाग-1

जैसे एक वृक्ष, जिसका सम्बन्ध मूल से कट गया हो, कुछ काल तक तो हरा-भरा रह सकता है, परन्तु वह शीघ्र ही सूखने और सड़ने लग जाता है, इसी प्रकार आज यह मानव-समाज भी, परमात्मा के मूल ज्ञान से सम्बन्ध टूट जाने से सूख तथा सड़ रहा है। मानव-समाज मानवता-विहीन हो रहा है।

हम यह मानते हैं कि परमात्मा ही ज्ञान का मूल स्त्रोत है और परमात्मा का ज्ञान वेद ज्ञान है। जो शाश्वत है। यह ज्ञान मानवमात्र के लिए है।

शाश्वत का अर्थ है सदा रहने वाला, नित्य। जो नित्य है, वह सबके लिए है। किसी जाति अथवा किसी देश विशेष से इसका एकाकी सम्बन्ध नहीं हो सकता।

मध्यकालीन भारतीय विद्वानों और उनका ही अनुकरण करते हुए पाश्चात्य एवं आज के भारतीय विद्वानों ने मिथ्या धारणाओं के कारण अथवा स्वार्थवश वेदों के मिथ्या अर्थ किए हैं।

वेदों का वास्तविक अर्थ कैसे जाना जाए, वे कौन-सी रेखाएँ हैं, जिनके आधार पर हम सत्य के समीप पहुँच सकते हैं? मानव-समाज को पुन: ज्ञान के उस मूल स्त्रोत, वेद से जोड़ने का प्रयास ही स्व० श्री गुरुदत्त का मुख्य उद्देश्य था। इसी उद्देश्य से शाश्वत संस्कृति परिषद् की स्थापना की गई थी।

श्री योगेन्द्र दत्त (स्व०)
शाश्वत संस्कृति परिषद्
नई दिल्ली

शाश्वत संस्कृति परिषद् के प्रकाशन उपलब्ध रहें, इसी प्रयास के साथ वेद प्रवेशिका का सम्पूर्ण संस्करण प्रस्तुत है।

प्रद्येश दत्त
हिन्दी साहित्य सदन
नई दिल्ली।

शाश्वत संस्कृति परिषद द्वारा प्रकाशित पुस्तकें जो अब हिन्दी साहित्य सदन से प्रकाशित हो रही हैं।

इतिहास में भारतीय परम्पराएं	रु 75	भारतवर्ष का संक्षिप्त इतिहास	रु 80

वेद, श्री मद्‌भगवद्‌गीता , दर्शन शास्त्रों व उपनिषदों पर रचनाएं

हमारी सांस्कृतिक धरोहर	रु 150	ईश केन् कठ उपनिषद्	रु 50
वेद मन्त्रों के देवता	रु 60	प्रश्न ऐत्तरेय उपनिषद्	रु 40
वेद और वैदिक काल	रु 45	मुण्डक माण्डूक्य उपनिषद्	रु 40
विश्वेदेवा	रु 40	तैत्तिरीय उपनिषद्	रु 40
विज्ञान और विज्ञान	रु 40	सृष्टि रचना	रु 50
वेदों में सोम	रु 25	सायंस और वेद	रु 40
वेदों में इन्द्र	रु 25	यजुर्वेद और गृहस्थ धर्म	रु 50
वेद प्रवेशिका (2 भाग)	रु 90	श्रीमद्‌भगवद्‌गीता (भाष्य)	रु 85
अद्वैत मीमांसा	रु 40	श्रीमद्‌भगवद्‌गीता (अध्ययन)	रु 85
न्याय दर्शन	रु 160	ब्रह्मसूत्र -1	रु 170
सांख्य दर्शन	रु 200	ब्रह्मसूत्र -2	रु 80

श्री गुरुदत्त की राजनीतिक रचनाएं

भारत गांधी नेहरू की छाया में	रु 80	धर्म संस्कृति और राज्य	रु 180
वर्तमान दुर्व्यवस्था का समाधान		राष्ट्र राज्य और संविधान	रु 35
हिन्दू राष्ट	रु 40	हिन्दुत्व की यात्रा	रु 40
स्व अस्तित्व की रक्षा (2 भाग)	रु 60	धर्म तथा समाजवाद	रु 55
मनुष्य और समाज	रु 35	भारत में राष्ट्र	रु 30
बुद्धि बनाम बहुमत	रु 30	मैं हिन्दू हूँ (राजनैतिक संस्मरण)	रु 35
अन्तिम यात्रा		भाव और भावना (संस्मरण)	रु 50
(डा0 मुखर्जी की)	रु 25	भाग्यचक्र (संस्मरण)	रु 50

नव दर्शन परिचय (प0 राजाराम शास्त्री) रु 30

प्राक्कथन

स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥ तै०आ० ७-११-१ ॥

वेदाध्ययन से पूर्व कुछ प्रारम्भिक बातों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। उन प्रारम्भिक बातों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही इस पुस्तिका की रचना की गई है।

यह सम्भव है कि जिनका ज्ञान इस विद्या के जानने के लिए आवश्यक है वे सब बातें इस पुस्तिका में न लिखी गई हों, फिर भी जिनका उल्लेख यहाँ किया गया है, एक सामान्य पाठक वेदाध्ययन में उनको सहायक पाएगा।

मैं स्वयं को वेद-विद्या का विद्यार्थी समझता हूँ और यही कारण है कि मैं उन प्रारम्भिक कठिनाइयों को, वेदों के उन प्रकाण्ड विद्वानों से, जिनको अपनी विद्वत्ता प्राप्त करने के लिए गुरु-चरणों में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, अधिक समझ सका हूँ। मैं बहुत अधिक सीमा तक स्वाध्याय पर ही निर्भर करता रहा हूँ और बहुत अल्प मात्रा में गुरुजनों से सहायता प्राप्त कर सका हूँ। वेदाध्ययन में जो कठिनाइयाँ मेरे मार्ग में उपस्थित हुई हैं, और उन कठिनाइयों को पार करने में मुझे जो कुछ अनुभव प्राप्त हुए हैं, उनको बताने से इस क्षेत्र में आने वाले नवीन पथिकों का कुछ तो पथ-प्रदर्शन होगा ही, इसी विचार से इस पुस्तक को लिखने का मैंने प्रयास किया है।

एक बात ने इस क्षेत्र में पदार्पण करने में मुझे उत्साहित किया है, वह है मेरा आधारभूत ज्ञान जो आधुनिक विज्ञान के अध्ययन से मैंने प्राप्त किया था। महर्षि दयानन्द ने अपने ऋग्वेद भाष्य के आरम्भ में यह कहा है—

''''ऋचन्ति स्तुवन्ति पदार्थानां गुणकर्मस्वभावाननया सा ऋक्, ऋक् चासौ वेदश्चर्ग्वेदः।

अर्थात्—ऋचाएँ पदार्थों की स्तुति करती हैं। अर्थात् उनके गुण, कर्म, स्वभाव का वर्णन करती हैं। ये ऋक् हैं और उनका संग्रह ऋग्वेद है।

अपने पदार्थ-ज्ञान के आधार पर वेदार्थ समझ सकने की आशा में मैं वेदाध्ययन के लिए प्रवृत्त हुआ तो मार्ग में कठिनाइयाँ आने लगीं और मैं उनका क्या अर्थ समझ सका, उनका वर्णन यहाँ कर रहा हूँ।

जिसने वेद का विधिवत् अध्ययन किया है ऐसे किसी विद्वान् के लिए यह वर्णन कुछ लाभप्रद नहीं भी हो सकता। परन्तु प्रारम्भिक स्वाध्याय करनेवालों के लिए इसका कुछ तो लाभ अवश्य होगा।

इन कठिनाइयों को पार करने का मार्ग पाने में कई ग्रन्थों का अध्ययन सहायक

सिद्ध हुआ है। यदि उनमें से कुछ का नाम लिख दिया जाए तो उचित होगा। ये ग्रन्थ हैं—रामायण, महाभारत, भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र, सांख्य दर्शन।

जब मैंने वेद का अध्ययन आरम्भ किया था तो मुझे बताया गया था कि प्रत्येक मन्त्र पृथक्-पृथक् अर्थ रखते हैं। परन्तु जब मैं पढ़ने लगा तो वेद के सूक्तों का अर्थ समझने पर मुझे यह कथन भ्रान्त प्रतीत होने लगा।

फिर किसी ने बताया कि मन्त्रद्रष्टा ऋषि का ज्ञान प्राप्त किए बिना मन्त्र का अर्थ समझा नहीं जा सकता। यह बात मेरी समझ में नहीं आई।

स्वामी दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखा है कि प्रकरण से भावार्थ का पता चलता है। तब प्रश्न उत्पन्न हुआ कि मन्त्रों और सूक्तों के प्रकरण किस प्रकार पता चलेंगे? इस प्रकार प्रत्येक कठिनाई उत्पन्न होने पर अध्ययन और विचार तथा ग्रन्थों के स्वाध्याय से कठिनाई पार होती रही है। परिणाम कुछ अच्छा ही निकला है। वेदग्रन्थों का एक बहुत ही सुन्दर, सुविज्ञ और अर्थयुक्त चित्र सम्मुख आने लगा है।

मेरे इस प्रयत्न में मेरा सबसे बड़ा सहायक महर्षि दयानन्द द्वारा लिखित ग्रन्थ 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' रहा है। 'सत्यार्थप्रकाश' और स्वामीजी के भाष्य भी बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं।

इनके अतिरिक्त लाहौर के डी॰ए॰वी॰ कालेज के प्राध्यापक विद्यामूर्ति पण्डित राजारामजी शास्त्री के आत्मज पण्डित शुचिव्रत जी शास्त्री एम॰ए॰, एम॰ओ॰एल॰ से भी निरन्तर सहायता प्राप्त होती रही है।

मैं इन सबका आभारी हूँ। सायण भाष्य, स्कन्द स्वामी और वेंकट माधव के भाष्यों से भी मुझे सहायता मिली है। मेरा अध्ययन का ढंग ऐसा रहा है कि इनके परस्पर प्रतिकूल विचारों का मुझ पर प्रभाव नहीं हो सका। इसका एक नमूना मैंने पुस्तक के 'निर्वचन' के अध्याय में लिखा है।

मैं मानता हूँ कि वेदाध्ययन करते समय वेद पर युक्तियुक्त मनन आवश्यक है। इसी कारण इस पुस्तिका का प्रथम भाग लिखा है। प्रथम भाग का अगले भागों से घना सम्बन्ध है।

—गुरुदत्त

भाग-1

खण्ड एक

: १ :

वेद परमात्मा-प्रदत्त ज्ञान

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। महर्षि दयानन्द की ऐसी घोषणा है। इसे भारतीय हिंदू समाज का एक बहुत बड़ा अंश स्वीकार भी करता है। वह वेदों को स्वत: प्रमाण मानता है। अभिप्राय यह है कि इसमें कही बात के लिए वह किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं समझता।

परन्तु आज के काल में दो विकट स्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं। एक यह कि कुछ लोग 'वेद' और 'श्रुति' को पर्यायवाचक मानने लगे हैं। किन्तु श्रुति तो उन बहुत-से ग्रन्थों का नाम है जो सर्वप्रथम कहे और सुने गये थे। इनमें वेदों के अतिरिक्त आरण्यक, ब्राह्मण, उपनिषद्, महाभारत, गीता इत्यादि भी हैं। वेदों के विषय में यह परम्परा है कि ये अनादि हैं और अपौरुषेय हैं। मनुष्य शरीरधारी होने से वह असीम नहीं हो सकता, अत: उसका ज्ञान भी असीम नहीं हो सकता। एवं मनुष्यकृत ग्रन्थ सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं हो सकते।

दूसरी विकट स्थिति यह है कि पृथिवी पर और भारत में भी एक बहुत बड़ी संख्या में लोग ऐसे हो गए हैं जो परमात्मा के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते। इस कारण वे ईश्वरीय ज्ञान को नहीं मानते।

अतएव वेद-ज्ञान में प्रवेश पाने के लिए इन दो प्रारम्भिक विचारों के विषय में स्पष्ट ज्ञान हो जाये तो वेद के अर्थ समझने में रुचि और सामर्थ्य आ सकती है।

प्रथम विचार के विषय में इतना समझ लेना आवश्यक है कि संस्कृत में लिखी प्रत्येक पुस्तक वेद नहीं हो सकती। वेद के अपने कुछ लक्षण होने चाहिएँ। केवल सुनी बात भी वेद नहीं हो सकती और न ही सुनी हुई बात सदैव सत्य होगी।

उदाहरण के रूप में संस्कृत भाषा में एक कथन है—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी।
दशवर्षा भवेत् कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला॥

माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्॥ पराशरी ७-६,८

इस कथन को प्रमाण मानने से पूर्व क्या यह जानना आवश्यक नहीं कि यह कथन किसका है? यह अनावश्यक है कि यह कथन किसी ने सुना है अथवा कहीं लिखा-पढ़ा गया है। आवश्यक बात तो यह जानना है कि इसमें जो कुछ कहा गया है क्या वह प्रमाण से सिद्ध है? क्या वह युक्ति-युक्त है? और क्या इसका अनुकरण करने से लाभ अर्थात् सुख प्राप्त होगा?

श्लोक के अनुसार कन्या का विवाह करना शरीर-विज्ञान के विरुद्ध और अनुभव से अति दुःखदायी होगा। अतः यह किसी ज्ञानवान् का कथन नहीं हो सकता।

यही बात ब्राह्मण इत्यादि ग्रन्थों की है। ब्राह्मण, आरण्यकादि ग्रन्थ श्रुति होते हुए भी मनुष्य-कथित ही हैं और उनमें सब बातें युक्तियुक्त एवं सांसारिक अनुभव के आधार पर नहीं हैं। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वे सदा और सर्वत्र प्रमाण हैं।

इसी कारण स्वामी दयानन्द यह मानते थे कि ब्राह्मण-ग्रन्थों से लेकर महाभारत तक लिखे ग्रन्थ आर्षग्रन्थ माने जा सकते हैं। इस पर भी वे वेदानुसार होने पर ही प्रमाण हैं एवं वेद-विपरीत होने पर मानने योग्य नहीं हैं।

यह बात युक्तियुक्त भी है। परस्पर-विरोधी ग्रन्थ प्रमाण नहीं हो सकते। मनुष्य अल्पज्ञ होने से सदा और सर्वत्र निर्भ्रान्त नहीं हो सकता। उदाहरण के रूप में महाभारत ऋषि वेदव्यास का लिखा ग्रन्थ है। इस कारण महाभारत में लिखे को स्वतः प्रमाण मानने के लिए यह आवश्यक है कि पहले वेदव्यास के सर्वज्ञ होने को सिद्ध किया जाए। यह वेदव्यास का जीवन-चरित पढ़ने पर पता चलेगा कि वह मानवों की भाँति भूलें भी करते थे। अतः उनका लिखा ग्रन्थ सर्वांश में सत्य होगा ही—यह नहीं कहा जा सकता।

महाभारत में कही कई बातें अस्वाभाविक और अयुक्तिसंगत हैं। इस कारण न तो वेदव्यास सर्वज्ञ माने जा सकते हैं और न ही उनकी कही बातें बिना स्वतन्त्र प्रमाणों से सिद्ध किये स्वीकार करने योग्य हो सकती हैं। यही बात ब्राह्मणादि ग्रन्थों की है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि जो कुछ महाभारत आदि के विषय में

कहा गया है, वही बात वेद के विषय में क्यों नहीं मानी जाती ?

हम भी यही मानते हैं कि कोई ऐसा प्रमाण होना चाहिए जो वेद को सत्य विद्या का ग्रन्थ सिद्ध करे। तभी वेद की प्रामाणिकता स्वीकार की जा सकती है।

भूमण्डल में हिन्दू समाज के बाहर एक बहुत बड़ा जन-समूह है जो वेद को ईश्वरीय ज्ञान नहीं मानता। अतः वेद किसने और कैसे कहे, यह तो बाद में बताएँगे। पहले यह सिद्ध करना होगा कि वेद में निर्भ्रान्त ज्ञान की बातें कही गई हैं।

भारतीय चिन्तन ने, बिना किसी भी व्यक्ति की साक्षी लिये, वेद के आधार पर ही निर्णय किया है कि वेद प्रामाणिक ग्रन्थ हैं।

भारतीय तर्क-शास्त्र ने यह कहा है कि आदि-सृष्टि में मनुष्य को ज्ञान देनेवाला कोई होना चाहिए। किसी ज्ञान देनेवाले के अस्तित्व को माने बिना मानव उन्नति नहीं कर सकता था।

ऐसा देखा गया है कि यदि दुर्घटनावश आज भी कोई मनुष्य समाज से वंचित हो जाए तो वह कुछ भी नहीं सीख सकता। ऐसे उदाहरण मिले हैं कि जब किसी विशेष कारण से कोई शिशु अपने माता-पिता और समाज से असम्बद्ध हो जाय तो उसकी निर्माण-आयु व्यतीत होने पर वह फिर कुछ भी नहीं सीख सका।

एक बहुत ही शिक्षाप्रद उदाहरण अमेरिका के समाजशास्त्री आर० एम० मैकिवर ने अपनी पुस्तक 'सोसायटी'* में वर्णन किया है। वह लिखता है—

The famous case of Kasper Hauser is peculiarly significant because this ill-starred youth was in all probability bereft of human contacts through political machinations and therefore his condition when found could not be attributed to a defect of innate mentality. When Hauser, at the age of seventeen, wandered into the city of Nuremberg in 1828, he could hardly walk, had the mind of an infant, and could mutter only a meaningless phrase or two. Sociologically it is noteworthy that Kasper mistook inanimate objects for living beings. And when he was killed five years later, a post-mortem revealed the brain development to be subnormal.

इसका अर्थ है—

कैस्पर हाउज़र का मामला प्रसिद्ध है। यह विशेष रूप में ध्यान देने

* Ed. 1962, Macmillan & Co. Ltd. London, p. 44.

योग्य है कि यह भाग्यहीन युवक सम्भवतः राजनैतिक दुर्भाव के कारण मानव-सम्पर्क से वंचित कर दिया गया था। अतः उसकी वह अवस्था, जब वह पाया गया तो किसी मानसिक दोष के कारण नहीं कही जा सकती थी। जब सत्रह वर्ष की वयस् में हाउज़र सन् १८२८ में न्यूरेम्बर्ग की सड़कों पर घूमता पाया गया तो वह चल नहीं सकता था। उसका मानसिक विकास एक शिशु के समान था। वह केवल कुछ निरर्थक शब्द ही बड़बड़ा सकता था। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह विचारणीय है कि हाउज़र निर्जीव पदार्थों को जीवित प्राणी समझता था। जब वह मारा गया तो उसकी शव-परीक्षा की गई। उसके मस्तिष्क का विकास बहुत निम्न प्रकार का था।

इसी लेखक ने और भी उदाहरण दिए हैं। इनसे लेखक भिन्न परिणाम निकालता है, परन्तु हमें इससे और ऐसे अन्य उदाहरणों से यह विदित होता है कि जब तक मनुष्य को कोई सिखानेवाला न हो, तब तक वह कुछ भी सीख नहीं सकता।

यदि वस्तुस्थिति यह है तो प्रथम मनुष्य को किसने ज्ञान दिया कि उसे सीधा खड़ा होकर पाँवों के बल चलना चाहिए, क्योंकि इससे वह सिर ऊँचा कर दूर तक देखता हुआ चल सकता है? काम चलाने योग्य शब्द उसे किसने सिखाये? उसे मनुष्य की भाँति रहना तथा अन्य बातें किसने सिखाईं?

भारतीय दर्शनशास्त्री कहते हैं कि सृष्टि के आदि में परमात्मा ने मनुष्य को वेद-ज्ञान दिया जिससे वह मनुष्यों की भाँति रहना सीख गया।

विकासवाद

पूर्वोक्त सिद्धान्त पर सन्देह करनेवाले यह कहते हैं कि मनुष्य एकदम नहीं बना। वह संसार के धक्के खाता हुआ, धीरे-धीरे, निम्न प्रकार के जन्तुओं से वर्तमान उन्नत स्थिति में पहुँचा है। इस विचार को वे विकासवाद कहते हैं। इस वाद के अनुसार यह माना जाता है कि—

सब प्राणी एक ही प्रकार के जन्तु अमीबा से बने हैं और इस विकास (अर्थात् जाति-परिवर्तन) में मनुष्य अन्तिम कड़ी है। इस अवस्था में पहुँचने के लिए उसे लाखों वर्ष लगे हैं। इस वाद को माननेवाले ऐसा मानते हैं कि मनुष्य का जनक वनमानुष के ढंग का जन्तु रहा है जो आजकल नहीं मिलता। आजकल की भाँति का मनुष्य आज से बीस-बाईस सहस्र वर्ष पहले यहाँ

: २ :

उपनिषदादि ग्रन्थ

मनुष्यकृत ग्रन्थ वेद के समान विश्वास योग्य नहीं हैं। अतएव उनको तब ही स्वीकार किया जा सकता है जबकि वे वेदानुकूल हों।

जब एक बार हम यह समझ लें कि वेद ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ हैं, तब उस कसौटी पर अन्य ग्रन्थों की परीक्षा की जा सकती है।

परीक्षा करते समय प्रमाणों के विषय में यह माना गया है कि प्रमाण तीन प्रकार के हैं—

द्वयोरेकतरस्य वाप्यसंनिकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविधं प्रमाणम्॥ (सां० १-८७)

अर्थात्—(बुद्धि और आत्मा) दोनों अथवा दोनों में से एक को पूर्व-अज्ञात अर्थ का ज्ञान होना प्रमा कहलाता है। जो इस (प्रमा) को भली-भाँति सिद्ध करता है, वह प्रमाण तीन प्रकार का है।

इन तीन प्रकार के प्रमाणों को प्रत्यक्ष-प्रमाण, अनुमान-प्रमाण और शब्द-प्रमाण कहते हैं।

प्रत्यक्ष का अभिप्राय है—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्॥ (न्याय० १-१-४)

अर्थात्—इन्द्रियों के विषयों के साथ संयोग से उत्पन्न ज्ञान, जो शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सके, जो दोषरहित हो और निश्चयरूप हो, वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय द्वारा भ्रमरहित और निश्चयात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं, भले ही वह शब्दों में प्रकट न किया जा सके।

दूसरे प्रकार के प्रमाण के विषय में कहा है—

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्॥ —सां० १-१००

अर्थात्—अटल सम्बन्ध को प्रतिबद्ध कहते हैं। इसको देखकर बँधे हुए

का ज्ञान अनुमान कहलाता है।

ज़ब यह पता चले कि दो वस्तुओं, विचारों अथवा सिद्धान्तों का एक न टूटनेवाला सम्बन्ध है, तब एक को देखकर दूसरे के वहाँ होने का ज्ञान अनुमान कहलाता है।

यह प्रमाण प्रायः सूक्ष्म अथवा लीन पदार्थों के विषय में प्रयोग में लाया जाता है। इनको प्रत्यक्ष करने में इन्द्रियाँ कार्य नहीं करती हैं। इसका एक विख्यात उदाहरण सांख्याचार्य देता है—

अचाक्षुषाणामनुमानेन सिद्धिर्धूमादिभिरिव वह्नेः॥ —सां० १-६०

अर्थात्—अदृष्ट पदार्थों की अनुमान से सिद्धि होती है, जैसे धूमादि को देखकर अग्नि का ज्ञान होता है।

अग्नि दिखाई न देती हो, परन्तु धुआँ दिखाई दे तो निश्चय ही अग्नि का ज्ञान होता है।

शब्द-प्रमाण का अभिप्राय है वेद-प्रमाण।

यहाँ यह सब बताने से हमारा अभिप्राय यह है कि किसी बात अथवा ग्रन्थ की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए ये तीन प्रमाण हैं। वेद तो हैं ही। वेद के अतिरिक्त भी प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से किसी वस्तु के सत्य ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए अब हम बृहदारण्यक उपनिषद् के एक कथन की परीक्षा करेंगे। उसमें एक स्थान पर कहा है—

''''चाक्रायणः पप्रच्छ। याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः। कतमो''''

—बृ० उ० ३-४-१

अर्थ है—चाक्रायण ने याज्ञवल्क्य से पूछा—हे याज्ञवल्क्य! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, मेरे लिए उसकी व्याख्या करो।

याज्ञवल्क्य ने इसका उत्तर दिया। इस पर पुनः प्रश्न हुआ। कुछ प्रश्नोत्तरों के उपरान्त याज्ञवल्क्य ने अन्तिम उत्तर इस प्रकार दिया—

''''न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तम् ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम॥ —बृ० उ० ३-४-२

अर्थ है—तुम दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते, श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते, मति के मन्ता को मनन नहीं कर सकते, विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते। तुम्हारा यह आत्मा सर्वान्तर ही है। इससे भिन्न

नाशवान् है। इसके उपरान्त चाक्रायण चुप हो गया।

अब हम बृहदारण्यक के इस कथन की, उक्त प्रमाणों के आधार पर परीक्षा करते हैं।

इस कथन का अभिप्राय है कि जो मनुष्य में देखता है, सुनता है, विचार करता है, जानता है, उसे जाना नहीं जा सकता। वही सब प्राणियों के भीतर एक आत्मा है।

यह कथन प्रत्यक्ष-प्रमाण, अनुमान-प्रमाण और शब्द-प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। क्योंकि वह जो एक मनुष्य में देखता, सुनता, मनन करता अथवा जानता है, वह सबमें नहीं है। सबमें देखनेवाले, सुननेवाले, मनन करने वाले और ज्ञान प्राप्त करनेवाले भिन्न-भिन्न हैं।

यदि देवदत्त और सोमदत्त दोनों में देखने इत्यादि वाला आत्मा एक ही होता तो जो कुछ देवदत्त देखता, वह सोमदत्त अथवा कोई भी अन्य मनुष्य देख लेता।

यदि देवदत्त 'देवदास' का चलचित्र देख रहा है तो सोमदत्त भी घर पर अथवा किसी अन्य स्थान पर बैठा यह चलचित्र देख लेता।

यदि एक मनुष्य घर बैठा ग्रामोफोन रिकॉर्ड पर ओंकारनाथ ठाकुर का संगीत सुन रहा है तो संसारभर के सब प्राणी उसे सुन लेते। क्योंकि, महर्षि याज्ञवल्क्य के कहे अनुसार सबमें वही आत्मा है।

अतः प्रत्यक्ष-प्रमाण से यह अशुद्ध कथन है। अनुमान-प्रमाण से भी यह अशुद्ध सिद्ध होगा। मान लीजिए कि देवदत्त बाईसिकल पर जाता-जाता मोटरगाड़ी से टकराकर घायल हो हस्पताल पहुँच जाता है। वहाँ उसका ऑपरेशन हो रहा है और ऑपरेशन की वेदना से वह कराह रहा है और सोमदत्त घर बैठा हुआ हलुवा खाता हुआ प्रसन्नता एवं सुख अनुभव कर रहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि देवदत्त का आत्मा और सोमदत्त का आत्मा एक नहीं। इस प्रकार अनुमान-प्रमाण से भी याज्ञवल्क्य का यह कथन अशुद्ध सिद्ध किया जा सकता है।

शब्द-प्रमाण से भी यह अशुद्ध सिद्ध किया जा सकता है। हमने बताया है कि शब्द-प्रमाण से अभिप्राय वेद-प्रमाण है। इस कथन का विरोध वेद में इस प्रकार है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥
यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥

—ऋ० १-१६४-२०, २१,२२

अर्थात्—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया = दो सुन्दर गतियों वाले परस्पर सम्बन्धित तथा सखा-भाव रखते हुए एक-समान। वृक्षं = काटे-छाँटे जाने वाली प्रकृति पर। परि षस्वजाते = सर्वतः आश्रित हैं। तयोः = उन दोनों में। अन्यः = एक। पिप्पलं स्वादु अत्ति = प्रकृतिरूपी वृक्ष के पके फलों का स्वाद लेता है (सुख-दुःख भोगता है)। अनश्नन् = खाता हुआ। अन्यः = दूसरा (परमात्मा)। अभि चाकशीति = साक्षीरूप देखता है॥ २०॥

यत्रा = जहाँ। सुपर्णा = जीव, कर्म करनेवाला। अमृतस्य भागम् = अमृत पाने की। अनिमेषम् = निरन्तर। विदथा अभिस्वरन्ति = ज्ञान-विज्ञान का चिन्तन, पालन करता है। इनः विश्वस्य भुवनस्य = समस्त गृहों का स्वामी। गोपाः = रक्षक। मा धीरः = मुझ विद्वान् को। पाकम् = जो ज्ञान से परिपक्व हो चुका है। आ विवेश = आकर प्रवेश करे॥ २१॥

सुपर्णा = जीव। यस्मिन् वृक्षे मधु अदः = जिस वृक्ष के मीठे फल खाता है। निविशन्ते अधिविश्वे सुवते = जगत् में रहते सन्तान उत्पन्न करता है। इव आहुः तस्य = यह उनके विषय में कहा जाता है। अग्रे स्वादु पिप्पलं = पहले स्वादिष्ट फल खाए थे। तत् न उत् न शत् यः पितरम् न वेद = वे परमात्मा को नहीं जानते और नाश को प्राप्त होते हैं॥२२॥

इन मन्त्रों का भावार्थ यह है कि विश्व में आत्मा और परमात्मा प्रकृति के आश्रय रहते हैं। एक प्रकृति का भोग करता है और परमात्मा साक्षीरूप में देखता है। जो जीव परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करता है और भुवनों के स्वामी रक्षक परमात्मा के आश्रय रहता है, वह मोक्ष-प्राप्ति की कामना करता है।

और जो इस संसार के स्वादों को लेता हुआ यहाँ सन्तान उत्पन्न करता है, वह उस परमात्मा और मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।

हमारे कहने का निष्कर्ष यह है कि आत्म-तत्त्व दो हैं। एक तत्त्व पृथक्-पृथक् शरीरों में रहता हुआ भले-बुरे कर्म करता है। खाता-पीता, सुनता, सूँघता, मनन करता और ज्ञान प्राप्त करता है। वह आत्मा है। वह सबमें एक नहीं है। भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न है। दूसरा तत्त्व सर्वान्तर एक है।

अतः उपनिषद् का वह वाक्य वेदानुकूल नहीं है।

इसी प्रकार किसी भी ग्रन्थ की प्रामाणिकता का निर्णय किया जा सकता है। ग्रन्थ में कही बात को प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा शब्द प्रमाण से स्थापित किया जा सकता है।

इन तीनों अथवा इनमें से किसी एक प्रमाण से सिद्ध किया पदार्थ प्रमाणित माना जाता है। सांख्यदर्शन में कहा है—

तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाऽऽधिक्यसिद्धिः॥ —सां० १-८८

अर्थ है—इन प्रमाणों से जो कुछ सिद्ध हो जाए वह अन्तिम सिद्ध है। और अधिक प्रमाणों की आवश्यकता नहीं रहती।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि वेदार्थ की सत्यता की परीक्षा भी इसी प्रकार प्रमाण से की जा सकती है, अर्थात् जैसे ऊपर बताया है प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण से। वेदों पर निरुक्त का निर्वचन करनेवाले यास्क इस प्रकार कहते हैं—

अक्षरं न क्षरति। न क्षीयते वाऽक्षरं भवति। वाचोऽक्ष इति वा। अक्षो यानस्याञ्जनात्। तत्प्रकृतीतरद्वर्तनसामान्यात्। इति।

अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढः। अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः। न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्यः।

—यास्क निरुक्त १३-१२

अर्थात्—जो अक्षर क्षरित नहीं होता, वह ही वाक् (वेद-वाणी) हो जाती है, अथवा वाक् (वेद-वाणी) नाश नहीं होती। जैसे शकट के अरे अक्ष (धुरी) के आश्रय कार्य करते हैं। अतः मन्त्रार्थ की चिन्ता की गई है। अर्थ श्रुति के प्रमाण से, युक्ति से तथा प्रकरण-अनुसार होने चाहिएँ।

यह स्पष्ट है कि यास्क समझता है कि वेद परस्पर-विरोधी नहीं। अतः वेदार्थ में शब्द-प्रमाण का अभिप्राय यह है कि वेद में किसी एक स्थान पर कही हुई बात किसी दूसरे स्थान पर कही हुई बात के विरुद्ध नहीं हो सकती।

यास्क यह भी समझता है कि वेद का कहा तर्क से असिद्ध नहीं हो सकता। अभिप्राय यह कि वेद-कथन सदा तर्क-संगत होता है।

तर्क के विषय में यह कहा है कि आधार-युक्त तर्क सदा सत्य होता है। जिस तर्क में किसी प्रत्यक्ष अथवा अनुमान का आधार न हो, वह तर्क माननीय नहीं हो सकता। वेद सर्वदा तर्क-संगत बात ही कहता है।

साथ ही वेद के अर्थ प्रकरण के अनुसार ही करने चाहिएँ। जिस विषय

का सूक्त अथवा मन्त्र हो, उस विषय से हटकर उस मन्त्र का अर्थ यदि किया जाएगा तो वह अशुद्ध होगा।

यहाँ प्रकरण के विषय में दो शब्द कह देना उचित है। वेदमन्त्रों, सूक्तों (मन्त्र-समूहों) अथवा मन्त्रांशों पर देवता लिखे रहते हैं। ये देवता ही उस मन्त्र, मन्त्रांश, सूक्त का प्रकरण (विषय) होते हैं और उसको ध्यान में रखकर ही मन्त्रार्थ होने चाहिएँ। अभिप्राय यह है कि मन्त्र अथवा सूक्त के देवता का अर्थ है मन्त्र अथवा सूक्त में वर्णित विषय। प्रायः एक सूक्त (मन्त्रसमूह) का एक ही देवता अर्थात् विषय होता है। कभी एक ही सूक्त में मन्त्रों के भिन्न-भिन्न देवता होते हैं, फिर भी उनका एक ही सूक्त में होना यह प्रकट करता है कि विषय भिन्न-भिन्न होने पर भी उनमें समीपता अथवा परस्पर सम्बन्ध है।

देवता मन्त्रों का प्रकरण होता है और अर्थ प्रकरणानुसार होने चाहिएँ। यही यास्काचार्य का मत है। इससे यह स्पष्ट ही है कि वेद में प्रकरणानुसार ही वक्तव्य हैं।

हमने यह इस सन्दर्भ में बताया है कि वेदार्थ की सत्यता भी उसी प्रकार देखी जाती है जिस प्रकार किसी भी ग्रन्थ के सत्य-असत्य का निर्णय किया जाता है।

भारतीय विद्वानों का यह मत है कि वेद इस कसौटी पर सत्य सिद्ध होते हैं। अतः वेद स्वतः प्रमाण हैं।

जैसे किसी मनुष्य का किसी विषय में ज्ञान सदा सिद्ध हुआ हो तो फिर उस व्यक्ति को उस विषय का विशेषज्ञ मान, उस विषय में उसे प्रमाण समझा जाता है। यही बात वेदों की है। अन्तर इतना है कि जितने भी विषयों पर वेदों की परख की गई है, इसे सत्य ही पाया गया है, जबकि किसी भी मनुष्य के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। मनुष्य किसी एक अथवा दो-तीन विषयों का विशेषज्ञ हो सकता है, परन्तु सर्वज्ञ नहीं हो सकता। अतएव वेद सर्वज्ञ परमात्मा का रचा ग्रन्थ माना जाता है। परमात्मा को कवि कहा जाता है। कवि का अर्थ है सर्वज्ञ।

उपनिषद्, ब्राह्मण इत्यादि ग्रन्थ इस कसौटी पर सदा और सब स्थान पर सत्य सिद्ध नहीं होते। इस कारण ये ग्रन्थ वहाँ तक ही प्रमाण हैं जहाँ तक ये वेदानुकूल हों और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से इनकी बात सिद्ध की जा सके।

उपनिषदादि ग्रन्थों को 'परतः प्रमाण' माना जाता है।

वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने का वेद स्वयं भी साक्षी है। यद्यपि हम इन प्रमाणों को प्रथम कोटि का प्रमाण नहीं मानते, परन्तु जब वेद की अन्य बातें सत्य सिद्ध होती हैं तो इसके अपने विषय में साक्षी को भी सत्य माना जा सकता है।

अथर्ववेद का एक मन्त्र है—

यस्मादृचो अपातक्षन्यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥

—अथर्ववेद १०-७-२०

अर्थ हैं—यस्मात् = जिस (परमात्मा) से। ऋचः = ऋचाएँ। अप अतक्षन् = प्रकट हुईं। यस्मात् = जिससे। यजुः = यजुर्वेद। अप अकषन् = प्रकट हुआ। सामानि = मोक्ष-विद्याएँ (सामवेद)। यस्य = जिसके। लोमानि = लोम हैं। अथर्व अङ्गिरसः = अथर्व अंगों के रस समान हैं। मुखं तं = मुख के समान हैं। स्कम्भम् सः स्वित् एव कतमः ब्रूहि = वह धारण करने योग्य (परमात्मा) कौन है ? तू ही कह।

अभिप्राय यह है कि परमात्मा जो मुखस्वरूप है अर्थात् ज्ञान देनेवाला है, उससे ही ऋक्, यजुः, साम, अथर्ववेद उत्पन्न हुए।

इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र है—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतऽ: ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाᳬसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥—यजुः० ३१-७

अर्थात्—तस्मात् = उस। यज्ञात् = अति पूजनीय से। सर्वहुतः = सबसे ग्रहण किए जानेवाले से। ऋचः = ऋग्वेद। सामानि = सामवेद। जज्ञिरे = उत्पन्न हुए। तस्मात् = उसी से। छन्दांसि = अथर्ववेद। जज्ञिरे = उत्पन्न हुआ। तस्मात् = उससे। यजुः = यजुर्वेद। अजायत = उत्पन्न हुआ।

इस वेदमन्त्र से यह प्रकट होता है कि वेद अपने परमात्मा-रचित होने की घोषणा करता है। वह परमात्मा सबका हित करनेवाला है।

इतना कुछ कहने पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या परमात्मा कोई तत्त्व है भी ?

: ३ :

परमात्मा का अस्तित्व

'परमात्मा है'—ऐसा वेद में कहा गया है। वेद की प्रामाणिकता के विषय में हम पिछले अध्याय में कह आये हैं। अत: यदि वेद ने परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है तो परमात्मा को मानना ही पड़ेगा।

परन्तु ऋषियों ने इतने पर सन्तोष नहीं किया। उन्होंने वेद के अतिरिक्त प्रमाणों से भी परमात्मा के अस्तित्व की सिद्धि की है। हम इस विषय में दोनों प्रकार से विचार करेंगे।

वेद में कहा है—

ईशा वास्यमिदँ् सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ यजु:० ४०-१

अर्थात्—ईशा = ईश्वर से। वास्यम् = आच्छादित है। इदम् = यह। सर्वम् = सब-कुछ। यत् किम् च = और जो कुछ। जगत्याम् = चलायमान संसार में। जगत् = चल रहा है। (तेन त्यक्तेन = इस कारण) त्यागपूर्वक। भुञ्जीथा = भोग कर। मा = मत। गृधः = लालच कर। कस्य स्वित् = किसका है वह। धनम् = धन-सम्पदा।

अभिप्राय यह कि जो कुछ इस जगत् में स्थावर एवं चलायमान दिखाई देता है वह परमात्मा से आच्छादित है। लालच मत कर। त्यागपूर्वक इसका भोग कर। यह किसी की भी सम्पत्ति नहीं है।

पूर्ण जगत् के प्राकृतिक पदार्थों की रचना परमात्मा ने की है। यह सब मनुष्य-मात्र के लिए है। अत: किसी को इस पर स्वामित्व जमाकर नहीं बैठ जाना चाहिए। त्याग की भावना से ही इसका भोग करना चाहिए।

परमात्मा के स्वरूप के विषय में भी कहा है—

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ् शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्व-
तीभ्यः समाभ्यः॥ — यजु:० ४०-८

अर्थात्—सः = वह (परमात्मा)। परि अगात् = सर्वत्र व्यापक है। शुक्रम् = शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान्। अकायम् = शरीर-रहित। अव्रणम् विकार-रहित। अस्नाविरम् = स्नायु-बन्धन से रहित। शुद्धम् = अविद्यादि दोषों से रहित। अपापविद्धम् = वह जो पाप से बद्ध नहीं होता। कविः = महान ज्ञानवान्। मनीषी = सबके मन को जाननेवाला। परिभूः = दुष्टों को दूर करनेवाला। स्वयम्भूः = अनादि। शाश्वतीभ्यः = सनातन, अनादि। समाभ्यः = सबके लिए समान-भाव में। याथातथ्यतः = यथार्थता से। अर्थान् = सब पदार्थों का। व्यदधात् = अच्छी प्रकार से उपदेश करता है।

इन मन्त्रों को यहाँ देने से हमारा अभिप्राय यह बताना है कि वेद आस्तिकता का ग्रन्थ है। यह सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सब जगत् के रचनेवाले तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करता है।

वेद प्रामाणिक ग्रन्थ है—यह बताया है। वेद में परमात्मा के अस्तित्व को माना है। इससे परमात्मा को स्वीकार करने में बहुत बल मिलता है। वेद की प्रामाणिकता का आधार इसका ईश्वरकृत होना ही नहीं। यह तो अपौरुषेय माना जाता है और परमात्मा के साथ यह भी अनादि है।

परन्तु वेद की प्रामाणिकता इस कारण नहीं कि यह परमात्मा द्वारा कहा गया है। इसकी प्रामाणिकता है इसका प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध होना। जो कुछ भी इसमें कहा है, वह इन प्रमाणों से सिद्ध ही है।

ऐसा करने के उपरान्त वेद में परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना एक प्रमाण है। परन्तु यदि वेद प्रत्यक्ष और अनुमान से सत्य सिद्ध ग्रन्थ है तो वेद में कहा गया परमात्मा भी तो प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध होना चाहिए। दर्शनशास्त्रों ने इसे सिद्ध किया है।

ब्रह्मसूत्रों में कहा है—

जन्माद्यस्य यतः ॥ — ब्र० सू० १-१-२

अर्थात्— जन्मादि = जन्म, पालन और प्रलय। अस्य = इस जगत् का। यतः = जिससे होता है (वह ब्रह्म है)।

दर्शनाचार्य ने युक्ति की है कि जिससे यह दृश्यमान जगत् बना है, कार्य कर रहा है और प्रलय के समय विनष्ट होता है, वह परमात्मा है।

नास्तिक, जो परमात्मा के अस्तित्व को नहीं मानता, कहता है कि यह प्रकृति के नियम से बना है। परन्तु प्रकृति तो बिना किसी चेतन के चलाये

चलती नहीं।

दर्शनाचार्य इसमें इस प्रकार युक्ति करता है—

व्यतिरेकानवस्थितेश्च अनपेक्षत्वात्॥

— ब्र० सू० २-२-४

अर्थात्—व्यतिरेक अनवस्थितेः = उलट धर्म का न अवस्थित होने में। अनपेक्षत्वात् = बिना (किसी चेतन के) अपेक्षा के।

अभिप्राय यह है कि प्रकृति का कोई भी अंश बिना किसी (चेतन) के प्रभाव के जिस अवस्था में है उसी अवस्था में रहता है।

गेंद यदि खेल के मैदान में रखा हो तो जब तक कोई शक्तिवान् उसको ठोकर मारकर नहीं हिलाता, वह वहाँ शताब्दियों तक पड़ा रहेगा और हिलेगा नहीं।

यह सिद्धान्त तो आजकल के वैज्ञानिक भी मानते हैं। प्रख्यात वैज्ञानिक न्यूटन ने गति के नियम में पहली बात ही यह लिखी है—

Every particle of matter continues in a state of rest or motion with constant speed in a straight line unless compelled by a force to change that state.

अर्थात्— प्रकृति का कोई भी कण अचल स्थिति में पड़ा रहता है अथवा एक ही गति से सीधी रेखा में चलता रहता है जब तक वह किसी विपरीत शक्ति से अवस्था बदलने पर विवश नहीं किया जाता।

नास्तिक का कहना कि प्रकृति अपने नियम से रूप तथा अवस्था बदलती है, यह प्रमाण से सिद्ध नहीं है।

जगत्, सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि सब गति से चल रहे हैं। क्या यह सदा से ऐसे हैं? वैज्ञानिक ऐसा नहीं मानते। यह सृष्टि बनी है। इस जगत् में हम प्रतिदिन नक्षत्र टूटते देखते हैं। जो टूटा है वह कभी बना भी था। इस युक्ति से सृष्टि-रचना का अनुमान होता है और इससे यह पता चलता है कि रचना करनेवाला कोई महान् शक्तिशाली है।

ऊपर ब्रह्मसूत्रों को कहनेवाला कहता है कि वह ब्रह्म है।

महर्षि दयानन्द ईश्वर की सिद्धि 'सत्यार्थ प्रकाश' में इस प्रकार करते हैं—

प्रश्न— आप ईश्वर-ईश्वर कहते हैं, परन्तु उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हैं?

उत्तर— सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से।

अब विचारना चाहिए कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं। जैसे त्वचादि चारों इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के ज्ञान से गुणी से प्रत्यक्ष किया जाता है, वैसे ही इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना-विशेषादि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान-प्राप्ति में गुणों का प्रत्यक्ष होता है। गुणी का तो अनुमान ही होता है। इसी प्रकार रचनादि गुणों को देखकर रचना करनेवाले का ज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहा जाएगा।

हम मधुर ध्वनि सुनते हैं। कान को ध्वनि का ज्ञान होता है, परन्तु मन को तथा आत्मा को वाद्य-यन्त्र (शहनाई इत्यादि) का ज्ञान होता है। इस प्रकार सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि चलते हैं। चलने को हम प्रत्यक्ष देखते हैं। इससे उनको चलानेवाले का ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही कह सकते हैं।

: ४ :

वेद कब और कैसे प्रकट हुए ?

यदि यह स्वीकार करें कि वेद नित्य (अनादि) हैं और इनको परमात्मा ने प्रकट किया है तो इनके प्रकट होने का काल ईश्वरीय-ज्ञान के ग्रन्थ अर्थात् वेद में से ही स्वीकार करना पड़ेगा।

वैसे युक्ति तो यही है कि जिस समय जहाँ वेदों की अत्यधिक आवश्यकता रही होगी, उसी समय में वे प्रकट हुए होंगे।

इस पृथिवी पर वेद-ज्ञान मनुष्य के लिए ही है। मनुष्य से इतर प्राणी इसको न तो समझ सकते हैं और न ही वे इससे कोई लाभ उठा सकते हैं। अत: वेद मनुष्य को तब ही मिले होंगे जब मनुष्य इस सृष्टि पर उत्पन्न हुआ था। मनुष्य इस सृष्टि पर कब हुआ, यही जानने को रह जाता है।

विकासवाद को सत्य सिद्धान्त माननेवाले तो यह मानते हैं कि आरम्भ में एक-कोषीय जन्तु ही बना था और लाखों-करोड़ों वर्षों में उस एक-कोषीय जन्तु से वर्तमान युग के करोड़ों जातियों के जन्तु बने हैं। वे यह भी मानते हैं कि उस विकास की शृंखला में मनुष्य सबसे उन्नत और अन्तिम कड़ी है। हमने यह बताया है कि विकासवाद मिथ्या विचार है। विकासवाद को यदि सत्य मानें तो यह भी मानना पड़ेगा कि वेद कहे जाने के काल में मनुष्य आज से अवनत अवस्था में था। परन्तु मनुष्य की अन्य प्राणियों से श्रेष्ठता इसकी बुद्धि की है और वेद एक महान् विद्वान् और ज्ञानवान् व्यक्ति के कहे ग्रन्थ मानने होंगे। इसमें वर्तमान युग के ज्ञात सिद्धान्तों से भी अधिक श्रेष्ठ सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है।

हमने एक मन्त्र दिया है कि अन्न और ऊर्जा सूर्य से प्राप्त हुए हैं, हो रहे हैं और होते रहेंगे। इस दोनों का स्रोत सूर्य के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं। इस विषय में वर्तमान विज्ञान इससे अधिक जान नहीं सका। एक अन्य मन्त्र लीजिये—

वेद प्रवेशिका

था। उससे पहले के उसके चिह्न नहीं मिलते।

भारतीय मत इस विकासवाद को अशुद्ध मानता है। भारतीय विज्ञान कहता है—

(१) जाति सन्तति से बनती है। एक जाति के नर और नारी तो सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु दो भिन्न जातियों के संयोग से सन्तान नहीं होती। इस कारण ये जातियाँ कभी भी एक नहीं थीं।

(२) जहाँ कई अंशों में मिलती-जुलती जातियों में नर-नारी के संयोग से सन्तान होती भी है तो वह सन्तान आगे सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकती। घोड़े और गधे के संयोग से खच्चर उत्पन्न होने का उदाहरण विख्यात है। भेड़िये और कुत्ते में भी कभी सन्तान हो सकती है, परन्तु उससे आगे कोई नई जाति बनती नहीं देखी जाती। भिन्न-भिन्न योनियों की सन्तान नपुंसक होती है।

यहाँ तक कि वनस्पतियों में भी एक ही जाति में पैबन्द लग सकती है। आम की आम से ही पैबन्द लगती है। कभी विजातियों के साथ पैबन्द नहीं लगती। उदाहरण के रूप में आम की सन्तरे के साथ पैबन्द नहीं लग सकती अथवा अमरूद की लौकाट से पैबन्द नहीं लग सकती। उसका कारण यह है कि दोनों की जातियाँ एक नहीं।

(३) आज से सहस्रों वर्ष पहले इतिहास में यहाँ कुत्ते थे। परन्तु कुत्ता तो कुत्ता ही रहा है। वह किसी प्रकार की कोई नवीन जाति उत्पन्न नहीं कर सका।

अतः हमारा (भारतीय विज्ञानवेत्ताओं का) यह मत है कि सब जातियाँ ऐसी ही उत्पन्न हुई हैं जैसी कि आज हैं। आदि-सृष्टि से मनुष्य मनुष्य ही है और बन्दर बन्दर है।

भारतीय शास्त्र और वेद ऐसा ही मानता है। विकासवाद इसका खंडन नहीं कर सका।

अतः यह मत तो है ही कि आदि-काल से मनुष्य से मनुष्य ही बनता चला आ रहा है।

एक जन्तु-जाति का दूसरी जन्तु-जाति में परिवर्तन होता दिखाई नहीं देता। इसके साथ ही यह बात भी है कि भारत में सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास लाखों वर्ष पुराना है। यदि मानव-सृष्टि केवल बीस-बाईस हज़ार वर्ष पुरानी है तो भारत का इतिहास अशुद्ध मानना होगा।

इतिहास की यह बात हम इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में बताएँगे। यहाँ विकासवाद के मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिए एक अन्य युक्ति देते हैं।

विकासवादी कहते हैं कि बीस सहस्र वर्ष पूर्व मनुष्य एक वनप्राणी-जैसा जन्तु था और धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ वर्तमान स्थिति में पहुँचा है।

इससे यह स्पष्ट ही है कि आज से एक सहस्र वर्ष पुराना मानव अनुपात में असभ्य होना चाहिए और दो सहस्र वर्ष पुराना उससे अधिक असभ्य। और आज से छः-सात सहस्र वर्ष पुराना मनुष्य तो सर्वथा असभ्य, अज्ञ और समाज-शास्त्र से अनभिज्ञ होना चाहिए।

परन्तु यूरोपियन विद्वान् यह मानते हैं कि वेद आज से चार-पाँच सहस्र वर्ष पुराने हैं। यदि वेद में ऐसी बातें मिल जाएँ जिन्हें वर्तमान वैज्ञानिक जान-कर फूले नहीं समाते तो क्या यह सिद्ध नहीं होता कि पूर्ण विकासवाद नितान्त मिथ्या कल्पना है?

एक वेदमन्त्र है—

इषे त्वोर्ज्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणऽ आप्यायध्वमघ्न्याऽइन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेनऽ ईशत माघशँ्सो ध्रुवाऽअस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि॥

(यजुः० १-१)

अर्थ है—हे दिव्य गुणयुक्त सूर्य! आप हमें अन्न, ऊर्जा और प्राण देते हैं। आप उन (अन्न, ऊर्जा और प्राण) से श्रेष्ठतम कर्म को करने के लिए हमें भली-भाँति संयुक्त करें। हम ऐश्वर्य प्राप्त करें। न मारे जाने योग्य पशु (गाय, भेड़, बकरी इत्यादि) बहुत सन्तानवाले हमारे पास हों और हम ऐश्वर्ययुक्त हों। हमारे धनादि को चोर, ठग और डाकू छीनकर न ले जा सकें। वह (सूर्य) संसार की रक्षा करनेवाला होवे और यजमान की बहुत-सी प्रजाएँ हों।

यह कथन न केवल सभ्य मनुष्य की कामना कही जा सकती है, वरन् यह वर्तमान विज्ञान के सर्वथा अनुकूल भी है। सूर्य इस पृथिवी पर अन्न उत्पन्न करने में सहायक होता है। बिना सूर्य के अन्न उत्पन्न नहीं हो सकता। वर्तमान काल के, अपने को महान् उन्नत माननेवाले वैज्ञानिक भी यह जानते हैं कि अन्न सूर्य ही उत्पन्न कर सकता है और पृथिवी की पूर्ण ऊर्जा सूर्य की दी

हुई है।

हमारा प्रश्न यह है कि मनुष्य ने (पाश्चात्य विद्वानों के कथनानुसार) पाँच सहस्र वर्ष पुराने वेद से अधिक इस दिशा में क्या सीखा है? मनुष्य सूर्य (ऊर्जा एवं ऊष्मा) की सहायता के बिना एक भी दाना अन्न का अभी तक नहीं बना सका। तब विकासवाद का क्या अर्थ है? वस्तुस्थिति यह है कि इस कालावधि में मनुष्य ने उन्नति नहीं की, वरन् कुछ अवनति ही की है।

तनिक विचार करिए। भारत में चारों वेदों को कंठस्थ करनेवाले पुराने काल में काफी संख्या में मिलते थे, किन्तु आजकल नहीं मिलते। इस प्रकार मनुष्य के स्मृतियन्त्र में ह्रास हुआ है अथवा नहीं?

इसी प्रकार अन्य शारीरिक उपलब्धियों में वैदिक काल से भारी ह्रास हुआ है। यदि इन पाँच-छः सहस्र वर्ष में इतना ह्रास हुआ है तो वनमानुष से मनुष्य कैसे बन गया?

विकासवाद सर्वथा मिथ्यावाद है।

हमारा तो यह कहना है कि वेद में गूढ़ ज्ञान-विज्ञान की बातें कही हैं और वेद भूमण्डल के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इससे सृष्टि में विकासवाद सिद्ध नहीं होता।

(४) यजुर्वेद के मन्त्र (१-१) में यह बताया है कि अन्न सूर्य से निर्माण होता है। अन्न में मुख्य पदार्थ हैं 'कार्बोहाईड्रेट्स' और 'प्रोटीन'। प्रकृति में ये दोनों पदार्थ सूर्य-रश्मियों की सहायता से बनते हैं। वैसे तेल भी जो वनस्पतियों से निकलते हैं, वे भी सूर्य-रश्मियों की सहायता से बनते हैं। यह सब यजुर्वेद के निर्वचन के समय विदित था तो यह कहा जा सकता है कि यजुर्वेद का निर्वचनकर्त्ता आज के वैज्ञानिकों से अधिक नहीं तो उन-जैसा विद्वान् अवश्य ही था। परन्तु हमारे विचार में और भारतीय मान्यता के अनुसार वेद ग्रन्थ वर्तमान रूप में, आज से लाखों वर्ष पहले के कहे गए हैं।

वेद में यह आया है कि वेद अपौरुषेय हैं, अर्थात् वे किसी पुरुष (ऋषि, मनुष्य तथा देवता) ने नहीं कहे। वे अनादि हैं। परन्तु उनका अनादि स्वरूप तो ज्ञान में है। वर्तमान शब्दों में वे मानव-सृष्टि के होने के समय कहे गए। भारतीय परम्पराओं के अनुसार इन्हें कहे हुए अड़तीस-उनतालीस लाख वर्ष हो चुके हैं।

वेद के आविर्भाव का प्रकार और इसके काल के विषय में हम पृथक् एक अध्याय में लिखेंगे। यहाँ केवल इतना बताने से अभिप्राय है कि वेद

अति प्राचीन ग्रन्थ होते हुए भी उत्कृष्ट ज्ञान-विज्ञान का वर्णन करते हैं। इससे यह कहने में संकोच नहीं होता कि इनका रचयिता कोई अत्यन्त विद्वान् तत्त्व है। उसे ही भारतीय परम्परा में परमात्मा कहते हैं।

वेदों में उत्कृष्ट विज्ञान के विषय में एक मंत्र है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

(ऋ० १-१-१)

अर्थात्—अग्निम् = अग्नि की। इळे = स्तुति करता हूँ। पुरोहितम् = सृष्टि-रचना से पहले जगत् को देनेवाली। यज्ञस्य = यज्ञरूपी कार्य का। देवम् = देनेवाली। ऋत्विज़म् = जो समय-समय पर सृष्टि-रचना करे। होतारम् = देनेवाला। रत्नधातमम् = धन-सम्पद् देनेवाले को।

इस मन्त्र का अभिप्राय है कि इस संसार में यज्ञरूपी कर्म करनेवाली अग्नि की, जो सृष्टि-रचना से पहले परमाणुओं में संयोग उत्पन्न करनेवाली है और रत्नादि (संसार की अद्‌भुत सुखकारक वस्तुएँ) देनेवाली है, की मैं स्तुति करता हूँ। स्तुति का अर्थ है गुण, कर्म और स्वभाव का वर्णन करना।

अग्नि का अभिप्राय है ऊर्जा। यह मन्त्र भी संसार में उन्नति और ज्ञान को प्राप्त करने के साधन ऊर्जा-शक्ति को जानने की ओर संकेत है।

इसी प्रकार मन्त्रों में उत्कृष्ट ज्ञान की बातें देखकर ही हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वेद किसी कवि, मनीषी अर्थात् सर्वज्ञ परमात्मा के निर्वचन हैं।

यह नहीं कि अन्न और ऊर्जा का नाम ही वेदों में हो, वरन् इनके विषय में रहस्यमयी जानकारी भी दी गई है। यह हम सब आगे चलकर समझाने का यत्न करेंगे।

इस अध्याय में हमने यह बताने का यत्न किया है कि वेद मनुष्य के लिए दिया हुआ परमात्मा का ज्ञान है और इसमें सत्य विद्याओं का ही दर्शन है।

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन्॥

—ऋ० १-१६३-१

सूक्त (१-१६३) का देवता (विषय) है 'अश्वोऽग्निः'—अग्नि अश्व। अश्व सृष्टि-रचना करनेवाली शक्ति है। अश्वोऽग्नि है वह अग्नि जो रचना-कार्य करनेवाली है। अतः मन्त्रों का अर्थ इसी विषय पर होना चाहिए।

मन्त्रार्थ हैं— श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू = बाज़ के पंखों तथा हरिण की बाहों की भाँति। अर्वन् = तीव्र गति से चलनेवाला (परमात्मा का तेज)। उद्यन्, समुद्रात् = समुद्र (अन्तरिक्ष) से ऊपर उठता हुआ। यत् अक्रन्दः = जिसने घोर शब्द किया। प्रथमम् जायमानः = पहले उत्पन्न हुआ। उत वा पुरीषात् = अथवा सब कामना पूर्ण करनेवाला। ते महि जातं = वह महत् उत्पन्न हुआ।

इस मंत्र में सृष्टि-रचना के आरम्भ का वर्णन है। अश्व को हमने रचना आरम्भ करनेवाला कहा है। यह इस कारण कि अन्य विद्वानों ने भी इसे इसी प्रकार लिया है। उदाहरण के रूप में बृहदारण्यक उपनिषद् में सृष्टि-रचना के प्रसंग में यह कहा है—

उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः — बृ० उ० १-१-१

अर्थात्— उषा (सृष्टि-आरम्भ) के यज्ञ में अश्व का शिर (प्रथम चरण) है। यहाँ सृष्टि-रचना के उषा अर्थात् आरम्भ के काल का वर्णन है और कहा है कि रचना-रूपी यज्ञ का अश्व प्रथम पग है।

इसी कारण अश्वोऽग्नि (देवता) से यह अभिप्राय है कि यह सृष्टि-रचना का प्रसंग है। अर्वन्— तेजस्वी, तीव्रगामी, घोर शब्द करनेवाला है।

इस सूक्त के अगले मन्त्रों को पढ़ने से उक्त अर्थ ही ठीक प्रतीत होंगे। त्रित का अर्थ है तीन का न टूटनेवाला संयोग। यह 'सत्त्व रजस् तमसां साम्यावस्था प्रकृति' का द्योतक है।[१]

इस प्रकार के मन्त्रों को पढ़ और समझकर यह कहना ही पड़ेगा कि या तो यह मानो कि वैदिक काल में मनुष्य आजकल से भी उत्कृष्ट ज्ञान रखता था अथवा यह मानो कि वेद ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ हैं।

भारतीय परम्परा तो इन वेदमन्त्रों से स्पष्ट होती है—

---

१. देखें लेखक का सांख्यदर्शन सूत्र १-६१ पर भाष्य।

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते॥
पुमाँ एनं तनुत उत् कृणत्ति पुमान् वि तन्ने अधि नाके अस्मिन्।
इमे मयूखा उप सेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे॥
कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत्।
छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवामयजन्त विश्वे॥

—ऋ १०-१३०-१,२,३

इस सूक्त का देवता है 'भाववृत्तम्'। इसका अर्थ है भाव (रचना होने) का वृत्तान्त।

अर्थ हैं— यः = जो। यज्ञः = यज्ञ। विश्वतः = सब ओर से। तन्तुभिः = तन्तुओं द्वारा। ततः = विस्तृत हुआ। एकशतं = एक सौ एक। देव = देव वर्ष। कर्मेभिः = कर्म द्वारा। आयतः = विस्तृत हुआ। इमे = यह सब। वयन्ति = बुनते हैं। पितरः = पितर अर्थात् प्रजापति (मनु)। यः = जो। आययुः = बनाया। आसते = विद्यमान है। तत् = विस्तृत। प्र वयाप = (प्र वय आप) वय = ऊपर का और नीचे का बना॥ १ ॥

पुमान् = परम पुरुष। एनम् = इस (संसाररूपी यज्ञ) को। तनुत = विस्तार करता है। उत् कृणत्ति = समाप्त करता है। पुमान् = परम पुरुष। वि तत्ने = विस्तृत करता है। अधिनाके = आकाश में। अस्मिन् = इसमें। इमे = वे। मयूखा = किरणें। उपसेदुः = उपस्थित होते हैं। उ-सदः = स्थान पर। तसराणि सामानि चक्रुः = तिरछी गतिवाले छन्द बनाये। ओतवे = बुनने के लिए॥ २ ॥

का = क्या। आसीत् = थी। प्रमा = परिमाणवाली। प्रतिमा = परिमाण मापने का साधन। किम् = क्या था। निदानम् = कारण और फल। आज्यम् किम् आसीत् = उस यज्ञ में सामग्री क्या थी। परिधिः आसीत् = रचना-यज्ञ कहाँ तक फैला हुआ था। छन्दः किम् आसीत् = छन्द क्या था। प्र उ गम् किं उक्थं = क्या कहा गया था (उन छन्दों में)। यत् = जब। विश्वे देवाः = समस्त देवगण। देवम् अयजन्त = परमात्मा का भजन कर रहे थे अर्थात् सहायक हो रहे थे॥ ३ ॥

इन मन्त्रों का भावार्थ यह है—

जब पूर्व के सूक्त (१०-१२९) में कहे अनुसार सृष्टि-रचना आरम्भ हुई तो एक सौ एक देव-वर्ष तक प्रकृति के परमाणुओं का ताना-बाना होता रहा

और तब पितर (परमात्मा) ने पंच महाभूतों से इस जगत् के विविध पदार्थ ऐसे बुने जैसे ताने-बाने से कपड़ा बुना जाता है। इस सबको करनेवाला परमात्मा है। बहुत ही विस्तृत क्षेत्र आकाश में यह जगत् बन गया और इसमें जो देवता बने, वे परमात्मा के यज्ञ में सहायता करने लगे।

वे कैसे सहायता करने लगे, इस विषय में आगे कहा है—

अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वोष्णिहया सविता सं बभूव।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत्॥
विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः।
विश्वान् देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः।
चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे।
पश्यन् मन्ये मनसा चक्षसा तान् य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे॥

—ऋ० १०-१३०-४,५,६

अर्थात्—अग्नेः = अग्नि। गायत्री = गायत्री छन्द। अभवत् = हुई। सयुग्वा = सहयोगी। उष्णिहया = उष्णिक् छन्द के साथ। सविता = सूर्य। सं बभूव = भली प्रकार संयुक्त हो गया। अनुष्टुभा = अनुष्टुप् छन्द से। सोम = स्तुतियों से। महस्वान् = महान् तेजस्वी हुआ। बृहस्पति = बृहस्पति की। बृहती = बृहती छन्द। वाचम् = वाणी को। आवत् = प्राप्त हुआ॥४॥

विराट् = विराट् छन्द। मित्रा वरुणयोः = मित्र और वरुण दोनों का। अभि श्री = आश्रित हुआ अर्थात् इन देवताओं को मिला। इन्द्रस्य = इन्द्र का। त्रिष्टुप् = त्रिष्टुप् छन्द। इह = यहाँ पर। भागः = अंश है। अह्नः = दिन का। विश्वान् देवान् = सब देवताओं को। जगती = जगती छन्द। आविवेश = चारों ओर से प्राप्त हुआ। तेन = उससे। चाक्लृप्र = सामर्थ्यवान् हुआ। ऋषयो = ऋषिगण। मनुष्याः = मनुष्य॥५॥

चाक्लृप्रे = सामर्थ्यवान् अर्थात् ज्ञानवान् हुए। तेन = उससे। ऋषयः मनुष्यः = ऋषि और मनुष्य। यज्ञे = यज्ञ (रचना) में। जाते = उत्पन्न होने पर। पितरः = आदि-पुरुष। नः = हमारे। पुराणे = प्रथम में। पश्यन् = देखता हुआ। मन्ये = मानता हूँ। मनसा = मन से। चक्षसा = देखने। तान् = उनको। यः = जो। इमं = इसको। यज्ञम् = यज्ञ को। अयजन्त = सम्पन्न करते थे। पूर्वे = आरम्भ होनेवाले॥६॥

इन मन्त्रों का अभिप्राय यह है कि पूर्व (ऋ० १०-१३०-३) में जो कहा

है कि देवता (वे पदार्थ जो सृष्टि-रचना में बने) परमात्मा के यज्ञ में सहायता देने लगे। अब बताया जा रहा है कि वे क्या सहायता दे रहे हैं।

अग्नि का सहयोग गायत्री छन्द-उच्चारण में होने लगा। उष्णिक् छन्द सूर्य के आश्रित हो गया। अनुष्टुप् छन्द सोम से महान् तेजस्वी हुआ। बृहती छन्द बृहस्पति से संयुक्त हो गया और वाणी को प्राप्त हुआ। विराट् छन्द मित्र और वरुण के आश्रित हो गया। इन्द्र दिन के समय त्रिष्टुप् छन्द का अंश हो गया। सब देवताओं के आश्रय विराट् छन्द हो गए। इस प्रकार ऋषि और मनुष्य, दोनों, छन्द से संयुक्त हो सामर्थ्यवान् हुए।

(मनुष्य और ऋषि) सामर्थ्यवान् और ज्ञानवान् होकर परमात्मा के यज्ञ में सहायक होने लगे और हमारे पूर्वज जो सृष्टि के आरम्भ में हुए, वे भी यज्ञ को सम्पन्न करने लगे, अर्थात् उन छन्दों में कहे ज्ञान के अनुसार व्यवहार करने लगे।

इस पूर्ण वक्तव्य में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक यह कि जो ये सात छन्द हैं वे वेदों के मुख्य छन्द हैं।

दूसरी बात यह है कि ये छन्द देवताओं के आश्रित हुए हैं। उनके कहने वाले देवता नहीं। कहनेवाला तो परमात्मा ही था। देवता मात्र आश्रय देने वाले थे।

तरंगों के रूप में आते हुए छन्दों का भावार्थ ऋषियों ने मन में समझा और फिर उसे भाषा में कहने लगे, जो मनुष्यों की भाषा हो गई थी।

जैसे मनुष्य में आत्मा और शरीर है, आत्मा शरीर के द्वारा ही अपने गुण-दोष बताता (प्रकट करता) है, इसी प्रकार जगत् परमात्मा का शरीर हो जाता है और इस जगत् के द्वारा ही परमात्मा अपने गुणों को प्रकट करता है।

यह प्रक्रिया वेद ने बताई है कि वेदों का अविर्भाव कैसे हुआ और कहाँ हुआ। इस विषय में भी बताया गया है कि सृष्टि के आदि में जब मनुष्य उत्पन्न हो गये, तब ही ऋषियों ने मनुष्य को यह बताया।

सृष्टि-रचना और उसका लय क्रमशः चलते रहते हैं, वैसे ही जैसे दिन और रात एक-दूसरे के उपरान्त अनादि काल से चले आ रहे हैं।

जब जहाँ रचना होती है वहाँ ब्राह्म-दिन माना जाता है और जब जहाँ प्रलय होती है तो उसे ब्राह्म-रात्रि कहते हैं। खगोलशास्त्रियों का यह कहना है कि एक ब्राह्म-दिन और रात्रि ८,६४,००,००,००० सौर वर्ष के होते हैं। ४,३२,००,००,००० वर्ष का दिन और इतने ही वर्ष की रात्रि। जब दिन

आरम्भ होता है तो परमाणुओं की साम्यावस्था भंग होती है और (सांख्यदर्शन में वर्णित) परिणाम बनने लगते हैं।

यह कहा गया है कि सम्वत्सर-(एक देववर्ष)-भर एक ब्रह्माण्ड में परिवर्तन होते रहे और इस काल के उपरान्त ब्रह्माण्ड फटा और द्यु (सूर्यादि), पृथिवी, नक्षत्रादि पृथक्-पृथक् हो गए और बीच में अन्तरिक्ष हो गया।

यह घटना ब्राह्म-दिन के आरम्भ से लगभग चार करोड़, बत्तीस लाख वर्ष उपरान्त हुई। तब जो पृथिव्यादि बने, वे अवश्य ही बहुत गर्म रहे होंगे और उन्हें ठण्डा होने में पर्याप्त काल लगा होगा।

ब्राह्म-दिन का विभाजन दो प्रकार से किया जाता हैं। एक तो रचना-क्रम में जब-जब कोई विशेष परिवर्तन हुआ तो कहा गया है कि ब्रह्म (सृष्टि-रचयिता) का नया रूप प्रकट हो गया। इस विभाजन को मनु अथवा काल-मन्वन्तर कहते हैं। ब्राह्म दिन के चौदह मन्वन्तर माने गये हैं, जिनमें से छः मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं और सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है।

सुगम गणना के विचार से पूर्ण ब्राह्म-दिन को १००० चतुर्युगियों में विभक्त किया गया है। इस प्रकार एक मन्वन्तर में ७१.४२८ चतुर्युगियाँ होती हैं। एक चतुर्युगी ४३,२०,००० वर्ष की होती है। इस प्रकार छः व्यतीत मन्वन्तरों का काल हुआ ६×४३,२०,०००×७१.४२८=१,८५,१४,१३,७६० सौर वर्ष।

सातवें मन्वन्तर की २७ चतुर्युगियाँ व्यतीत हो चुकी हैं और अट्ठाईसवीं चतुर्युगी चल रही है। अट्ठाईसवीं चतुर्युगी का सतयुग, द्वापर तथा त्रेता युग व्यतीत होकर कलियुग के ५०८९ वर्ष जा चुके हैं।

यह सब गणना इस प्रकार हो गई—

६ मन्वन्तरों का व्यतीत काल		१,८५,१४,१३,७६० मानव वर्ष
वैवस्वत मनु की २७	चतुर्युगियाँ	११,६४,४०,००० मानव वर्ष
वैवस्वत मनु की २८वीं	चतुर्युगी का सत्युग	१७,२८,००० मानव वर्ष
वैवस्वत मनु की २८वीं	चतुर्युगी का त्रेतायुग	१२,९६,००० मानव वर्ष
वैवस्वत मनु की २८वीं	चतुर्युगी का द्वापरयुग	८,६४,००० मानव वर्ष
वैवस्वत मनु की २८वीं	चतु० के कलियुग का व्यतीत	५,०८९ मानव वर्ष
	कुल व्यतीत काल	१,९७,१७,४६,८४९ मानव वर्ष

यह माना जाता है कि वैवस्वत मनु-काल में यहाँ पहले वनस्पतियाँ

* पुस्तक के सम्पादन-वर्ष में

उत्पन्न हुई। उसके बाद कृमि, कीट, पतंग उत्पन्न हुए। फिर पशु-पक्षी बने और वर्तमान चतुर्युगी के आरम्भ में मनुष्य उत्पन्न हुए। यह आज से लगभग २९ लाख वर्ष पहले हुआ था।

हमारा मत है कि मानव-सृष्टि होते ही वेद, जो पहले से ही छन्द-रूप में प्रसारित हो रहे थे, वे ऋषियों ने सुने और मानवी भाषा में कहे।

वर्तमान विज्ञान यह मानता है कि मनुष्य इस पृथिवी पर २२ हज़ार वर्ष पहले उत्पन्न हुआ था।

भारतीय शास्त्रों का मत है कि वर्तमान चतुर्युगी के आरम्भ में (लगभग उनतीस लाख वर्ष पूर्व) वेद ऋषियों ने मन में सुने और वर्तमान वैदिक भाषा में कहे।

: ५ :

वेदों का स्वरूप

हम बता चुके हैं कि वेद परमात्मा की प्रेरणा से अग्नि, सूर्यादि देवताओं द्वारा तरंगों के रूप में छन्दों में प्रसारित हुए। वे ऋषियों ने सुने और उन्होंने मानव-सृष्टि के आदि में वेद-वाणी में कहे।

इस वाणी का वर्णन वेद में एक अन्य स्थान पर भी है। वहाँ अधिक व्याख्या से है। वेदमन्त्र हैं—

यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्त्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥
देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥

—ऋ० ८-१००-१०, ११

ये वेदमन्त्र राष्ट्रभाषा अर्थात् जनता की भाषा के विषय में हैं। वेद इस बात को मानता है कि मनुष्य को जब तक कोई शिक्षा देनेवाला न हो तब तक यह कुछ भी सीख नहीं सकता। अतः जब आरम्भ में अमैथुनीय मनुष्य-सृष्टि हुई जो वाणी सीखने की बुद्धि और सामर्थ्य रखती थी, तो परमात्मा ने उसे वाणी सिखाने का प्रबन्ध भी किया। आठवें मण्डल के १००वें सूक्त का देवता इन्द्र है, अर्थात् परमात्मा ने वाणी सिखाने का प्रबन्ध कैसे किया, यही यहाँ वर्णन किया गया है।

मन्त्र के अर्थ हैं—यत् वाक् वदन्ति अविचेतनानि = जब अज्ञात अर्थों वाली वाणी। मन्द्रा राष्ट्री देवानाम् निषसाद वदन्ति = आनन्दित करती हुई दिव्य शक्तियों में बैठ जाती है तब वह जनभाषा का रूप ले लेती है। चतस्त्रः ऊर्जं दुदुहे = तब वह शक्तिरूप चारों दिशाओं में दुही जाती है, अर्थात् लोग उसका दोहन करते हैं। पयांसि = दूध समान। क्व स्वित् अस्याः परमं जगाम = कहाँ तक इस (वाणी) का अन्त गया है॥ १०॥

देवाः तां देवीं वाचम् = विद्वान् लोगों ने इस दिव्य वाणी को।

अजनयन्त = प्रकट किया। विश्वरूपा: = इस समस्त रूपों वाली को। पशव: वदन्ति = जनसाधारण बोलते हैं। सा न: मन्द्रा = वह वाणी हमें (मनुष्य को) प्रसन्नता प्रदान करती है। इषं ऊर्जं दुहाना = वह वाणी शक्ति देनेवाली टपकती है। धेनु: = गाय के चार स्तनों (चार वेदों) से। अस्मान् सुष्टुत उप एत = हमको स्तुति की हुई प्राप्त हो ॥ ११ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि जनभाषा मनुष्य को पहले प्राप्त हुई और उसके पीछे ऋषियों ने छन्दों में वेद-ज्ञान उच्चारण होता सुना और फिर मनुष्यों को इसे राष्ट्रीय भाषा में बताया।

दोनों में कितने समय का अन्तर रहा होगा, इसका उल्लेख नहीं किया गया है। परन्तु यह लाखों वर्ष का नहीं होगा। सम्भवत: अमैथुनीय मानवी सृष्टि को पहले राष्ट्रीय भाषा मिली और फिर तुरन्त ही वेदवाणी मिली।

एक बात यहाँ स्पष्ट है कि दोनों (राष्ट्रीय वाक् और वेदज्ञान) पहले देवताओं के द्वारा ही प्रसारित हुए। बाद में ऋषियों द्वारा मनुष्यों को मिले।

यहाँ कुछ थोड़ा-सा इस राष्ट्रीय भाषा और वेदभाषा के विषय में बता देना ठीक होगा। यह भाषा पदों में आई। पद अक्षरसमूह ही होते हैं। परन्तु अक्षर-अक्षर करके नहीं आई; पद-पद करके आई।

इस विषय में भी एक वेदमन्त्र है—

गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाऽक्षरेण मिमते सप्त वाणीः ॥

ऋ० १-१६४-२४

अर्थात्—गायत्रेण = व्योम की प्राणादि शक्तियों द्वारा। प्रति मिमीते = बार-बार कहा जाता है। अर्कम् = मन्त्र को। अर्केण = वाणी द्वारा। त्रैष्टुभेन साम वाकम् = त्रैष्टुभ छन्द में साम की वाणी को। वाकेन वाकम् = वाणी से वेद को। द्विपदा चतुष्पदा = दो पदों में, चार पदों में। मिमते सप्त वाणीः = सातों छन्द कहे जाते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि अक्षरेण = न नाश होनेवाले पदों में सातों छन्द कहे गये हैं।

मन्त्रों में हम देखेंगे कि एकपद, द्विपद, चतुष्पद हैं अर्थात् बहुत बड़े-बड़े पद नहीं हैं, जिनमें बड़े-बड़े समास हों और भाषा की विषमता का प्रदर्शन हो।

हमारा यह कहना है कि वेद भाषा अति सरल है। इसमें वह क्लिष्टता नहीं जो मध्यकालीन प्राकृत (संस्कृत) भाषा में पाई जाती है। उदाहरण के रूप

में न्याय दर्शन के एक सूत्र को देखिये।

सव्यभिचारविरूद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता॥

(न्या० द० १-२-४)

यह एक पद है।

अब शंकराचार्य को लीजिये। ब्रह्मसूत्र-भाष्य का एक पद है—

.... वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च ....

(वे० द० शांकर भाष्य १-३-३८ में से)

यह वैदिक शैली नहीं है। अधिकांश मन्त्र द्विपद और चतुष्पद में हैं। एकपदी वाक्य तो बहुत हैं।

अतः वेदार्थ समझना इतना कठिन नहीं जितना कि दर्शनशास्त्र अथवा शांकर भाष्य को समझना।

परन्तु वेदों में भी शब्दार्थ तो समझना होगा और विषय का भी निरीक्षण करना होगा। यह तो किसी भी ग्रन्थ को पढ़ने के लिए आवश्यक है। शब्दों के अर्थ और फिर जहाँ शब्द अनेकार्थवाची हों वहाँ वर्णित विषय के अनुसार शब्दार्थ करने आवश्यक होते हैं।

आज बहुप्रचलित आंग्ल भाषा में भी ऐसा ही है। उदाहरण के रूप में आंग्ल भाषा का एक शब्द क्रिस्प (crisp) लें। जब वस्तु की अवस्था का कथन हो तो इसके अर्थ होंगे—मुरमुरा, भुरभुरा, खस्ता। जहाँ वाणी के सम्बन्ध में यह शब्द आएगा वहाँ इसके अर्थ होंगे—सुस्पष्ट, विशद। जहाँ मनुष्य की अथवा किसी जन्तु की गति के साथ सम्बन्ध आएगा वहाँ इसका अर्थ होगा फुर्तीला, स्फूर्तिदायक। इसका प्रयोग जब बालों के सम्बन्ध में आएगा तो अर्थ होंगे—घुँघराले, कुंचित, लहरदार।

यही बात वेद-भाषा की है।

हमने पुस्तक के प्रथम खण्ड में वेद-विषयक सामान्य बातों का उल्लेख किया है। द्वितीय खण्ड में वेदों को समझने के लिए और अधिक क्या जानना आवश्यक है, यह बताया जाएगा।

खण्ड दो

: १ :

वेद-भाषा

आदि-काल में वेदार्थ समझने-समझाने में कुछ विशेष असुविधा नहीं रही होगी, क्योंकि राष्ट्रीय भाषा और वेद-भाषा एक ही थी। साथ ही जिन ऋषियों ने वेदों की छन्द-तरंगों को ग्रहण कर, उन्हें समझकर, जनसाधारण को बताया, वे स्वयं उपस्थित थे। यदि किसी को संशय होता तो वे तुरन्त उसका निवारण कर सकते थे।

काल व्यतीत होने के साथ-साथ बोली जाने वाली भाषा और वेद-भाषा में अन्तर होता गया। बोली जाने वाली भाषा, काल और स्थान-भेद के कारण बिगड़ती है, परन्तु वेद की भाषा उच्चारण के उपरान्त स्थिर हो गई थी।

यहाँ हम यह भी बता देना चाहते हैं कि वेद-भाषा केवल बोलने की ही भाषा थी, लिपि नहीं थी। लिपि तो बहुत बाद में, जब मनुष्यों का स्मृति-यंत्र दुर्बल पड़ने लगा तो आविष्कृत की गई।

लिपि मनुष्यकृत होने से एकदम ही श्रेष्ठ नहीं बन सकी। पहले कई अनुभवों के उपरान्त ब्राह्मी लिपि का आविष्कार किया गया। ब्राह्मी लिपि से अनेकानेक लिपियाँ बनीं। कुछ ब्राह्मी लिपि से भी घटिया बनीं और कुछ-एक उससे उन्नत हुईं।

उन्नत लिपियों में सर्वश्रेष्ठ लिपि देवनागरी है। यह श्रेय भी भारतीय विद्वानों को ही प्राप्त हुआ है कि उन्होंने अतिश्रेष्ठ लिपि का आविष्कार किया है। आज संसार में जितनी भी लिपियाँ हैं, उनमें देवनागरी सर्वश्रेष्ठ है।

लिपि का प्रयोजन यह होता है कि जो कुछ बोला जाए उसे शब्दों के स्थायी रूप में जाना जा सके। काल व्यतीत होने के साथ-साथ बोले जाने वाले वाक्य और पदों में विकृति आने लगी तो विद्वानों ने भाषा को स्थिर रखने के लिए बोले जाने वाले वाक्यों के स्वरूप (लिपि) का आविष्कार किया।

विद्वानों ने वाक्य और पदों की ध्वनि का विश्लेषण कर उसके सूक्ष्म

टुकड़े कर दिये। प्रत्येक टुकड़े का चिह्न नियत कर दिया। उदाहरण के रूप में 'वामन' शब्द लिया जा सकता है। उसके टुकड़े किये गये—वा, म, न। 'व' के भी दो टुकड़े किये गये और देखा गया कि 'म' और 'न' के भी दो-दो टुकड़े हो सकते हैं। यथा व् + आ; म् + अ; न् + अ।

इस प्रकार विश्लेषण करने पर विद्वानों की समझ में आया कि वास्तव में बहुत ही कम ध्वनियाँ हैं जिनके चिह्नों की आवश्यकता है।

सब ध्वनियों को दो श्रेणियों में बाँटा गया। एक श्रेणी को स्वर कहा गया और दूसरी को व्यंजन। मिल-मिलाकर ७ स्वर और ३५ व्यंजनों से बोली जाने वाली पूर्ण भाषा को लपेट में लिया जा सकता है। इन ४२ ध्वनियों के अतिरिक्त वेद की तीन-चार ध्वनियाँ विशेष हैं। वे आजकल की भाषा में प्रयुक्त नहीं होतीं।

इस प्रकार केवल ४२ चिह्नों से वेद की पूर्ण भाषा को लिखने का प्रबंध कर दिया गया।

भारतीयों ने एक बात का विशेष यत्न किया है कि एक ध्वनि के लिए एक ही चिह्न हो और एक चिह्न से एक ही ध्वनि प्रकट हो।

परन्तु हम यहाँ लिपि की बात नहीं कह रहे। हम ध्वनि की बात कह रहे हैं।

ध्वनि और अर्थ के विषय में निरुक्तकार यास्क ने लिखा है। वह पहले पूर्व-पक्ष उपस्थित करता है—

इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः॥ (या० नि० १-१)

अर्थात्—वचन नित्य है जब तक इन्द्रिय से सम्बन्धित है, अर्थात् यह अनित्य है—ऐसा औदुम्बरायण का मत है।

पूर्व-पक्षवाले का कहना है कि वेदों के वाक्य, पदादि मुख से बोले जाते हैं। अतएव अनित्य इन्द्रिय से बोले जाने वाला वाक्य नित्य कैसे हो सकता है?

इसका उत्तर यास्काचार्य इस प्रकार देता है—

व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यावहारार्थं लोके।

(या० नि० १-२)

अर्थात्—(शब्द) व्याप्तिवाला होने के कारण और अतिसूक्ष्म होने के कारण शब्द के द्वारा संज्ञा-करण व्यवहार के लिए लोक में प्रयुक्त हुआ है।

इसका अभिप्राय यह है कि शब्द का अर्थ के साथ व्याप्य-व्यापक

सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध अतिसूक्ष्म है।

व्याप्य-व्यापक का अभिप्राय है एक का दूसरे से अटूट सम्बन्ध। कहा है कि प्रत्येक शब्द का कुछ अर्थ होता है। यह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध निश्चित है। इस कारण जब अर्थ नित्य है तो शब्द भी नित्य है।

साथ ही यह कहा है कि यह अतिसूक्ष्म सम्बन्ध है, फिर भी है और स्थिर है।

आचार्य का कहना है कि शब्दों और भाव का अटूट सम्बन्ध होने से शब्द भी भाव के साथ नित्य मानना चाहिए। ऐसा ही लोक-व्यवहार में आता है।

किसी ने कहा—यह घट है। घट शब्द के स्थान पर आंग्ल भाषा में वह पिचर हो गया। परन्तु घट तो नहीं बदला। अतः जब भी 'घट' अथवा 'पिचर' कहा जाता है तो मिट्टी का वह पदार्थ ही समझ में आता है जो जल भरने के लिए बना है।

इस प्रकार एक वैदिक शब्द है 'चक्षणम्'। इसे पंजाबी में चखना कहते हैं। अंग्रेज़ी में इसे 'टेस्टिंग' कहते हैं। क्योंकि भाव स्थिर है, इस कारण शब्द भी स्थिर ही है। शब्द और अर्थों का सम्बन्ध साथ-साथ ही बना है।

यास्क इस विषय पर अपने पूर्ण लेख का निष्कर्ष इस प्रकार देता है—

तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानम्॥ —यास्क नि० १-२

ऊपर यास्क ने कहा कि शब्द और भाव का स्थिर सम्बन्ध है 'लोके'। यास्क यही कहता है कि जैसा संसार में व्यवहार है वैसा ही देवताओं में भी है, अर्थात् दैवी वचन और अर्थ में भी सम्बन्ध स्थिर ही है। ऋग्वेद (८-१००-१०,११) में 'दैवी वाचम्' कहा है। वहाँ यही अभिप्राय है कि वह राष्ट्री भाषा जो देवताओं से मनुष्यों को मिली, और वेद भी जो देवताओं से ऋषियों को मिले वे भी उस व्याप्ति-सम्बन्ध को रखते हैं। व्याप्ति-सम्बन्ध हम पहले समझा आये हैं।

ऋषियों ने ही मन्त्रों के देवता नियत किये थे। यह उन्होंने शब्द और भाव का सम्बन्ध समझकर किया था। यह सम्बन्ध एक अटूट सम्बन्ध है। अतः ऊपर के वाक्य (१-२) का यह अर्थ बन जाता है कि मन्त्रार्थ का देवताओं के साथ अटूट सम्बन्ध है।

वेद के प्रत्येक सूक्त, मन्त्र अथवा मन्त्रांश पर ऋषियों ने देवता लिख दिये थे और वे देवता मन्त्र, मन्त्रांश अथवा सूक्त (मन्त्र-समूह) के अर्थों का

संकेत है।

अतः मन्त्र के शब्दों का अर्थ मन्त्र के देवता से स्पष्ट होता है। शौनक ऋषि अपने ग्रन्थ 'बृहद्देवता' में लिखते हैं—

मन्त्रदृग्भ्यो नमस्कृत्वा समाम्नायानुपूर्वशः।
सूक्तर्गर्धर्चपादाम् ऋग्भ्यो वक्ष्यामि दैवतम्॥ १॥
वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।
दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति॥ २॥
तद्धितांस्तदभिप्रायान् ऋषीणां मन्त्रदृष्टिषु।
विज्ञापयति विज्ञानं कर्माणि विविधानि च॥ ३॥
न ही कश्चिदविज्ञाय याथातथ्येन दैवतम्।
लौक्यानां वैदिकानां वा कर्मणां फलमश्नुते॥ ४॥

—बृहद्वेता १-१,२,३,४

अर्थ हैं—पूर्व में मन्त्रों का संग्रह करनेवाले को नमस्कार कर मन्त्रों के सन्दर्भ को देखकर मैं कहता हूँ कि सूक्त, मन्त्र, मन्त्रांशों, मन्त्रपाद का भाव बताने के लिए देवता कहे हैं ॥१ ॥

मन्त्र के देवता का यत्नपूर्वक ठीक-ठीक भाव जानकर (अर्थ करने चाहिएँ)। जो देवता को जानता है वह मन्त्र का भाव समझ सकता है ॥२ ॥

देवता को जाननेवाला ही बता सकता है कि ऋषियों का मन्त्रों से अभिप्राय क्या था। सब मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों को उसका ज्ञान हुआ था ॥३ ॥

क्योंकि देवता का ठीक-ठीक ज्ञान हुए बिना मन्त्रों का प्रयोग और अर्थ नहीं जाना जा सकता ॥४ ॥

अतः मन्त्र का अर्थ अर्थात् भाव उसके देवता से पता चलता है। शौनक ऋषि के कहने का अभिप्राय यह है कि सूक्त, मन्त्र तथा मन्त्रांश के देवता का निश्चय मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों ने किया है।

अर्थ और भाव के अन्तर के विषय में भी यास्क ने कहा है। वह कहता है कि देवता भाव बताता है। शब्दार्थ उस भाव के अनुसार निर्वचन किये जाते हैं।

यास्क अपने निरुक्त में मन्त्रों के चार प्रकार के पद मानता है। वेद के सब प्रकार के पदों के संग्रह को समाम्नाय कहते हैं। यही सब निघण्टु है।

इसे निघण्टु क्यों कहते हैं? वह इस कारण कि इसमें निगम है। निगम का अभिप्राय है अर्थबोध करानेवाला।

भाषा के चार भाग हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात।

(१) 'नाम' पद द्रव्यप्रधान होते हैं। अभिप्राय यह कि पदार्थों के नाम इस भाग में आते हैं, जैसे—गोः, अश्व, पुरुष, स्त्री।

(२) 'आख्यात' वे पद हैं जो भावप्रधान हैं, जैसे—व्रजति, पचति। इसी प्रकार 'भवतीति' है।

(३) 'उपसर्ग' उन पदों को कहते हैं जो किसी नाम (संज्ञा) अथवा क्रिया पर प्रभाव उत्पन्न करें। ये स्वतः अर्थ नहीं रखते। (इन्हें अंग्रेज़ी भाषा में प्रिफ़िक्स अथवा प्रेपोज़ीशन कहते हैं।)

(४) 'निपात' का अर्थ है जो बीच में आ जाये। भाषा के सन्दर्भ में इसका अर्थ है क्रिया-विशेषण (एडवर्बियल एडजंक्ट)। इसका अर्थ है वे शब्द जो बीच में ऐसे आ जाते हैं जिनसे तुलना होती है।

निपात के विषय में यास्क कहता है—

उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। (यास्क नि० १-२)

अर्थात्—उच्च और अवच। अभिप्राय यह कि अनेक प्रकार के अर्थों में (बीच में) गिरते (आ जाते) हैं।

कोई उपमा अर्थ में, कोई कर्म उप-संग्रह के अर्थों में और कभी प्रतिवेदार्थ के रूप में।

उपमा का उदाहरण है—**'अग्निरिव'** (ऋ० १०-८४-२)

निषेध का उदाहरण है—**'दुर्मदासो न सुरायाम्'** (ऋ० ८-२-१२)

अर्थात् अनेक अर्थवाले शब्द बीच में आते हैं। निपात पदपूर्त्ति के लिए भी आते हैं। यथा—हि, किल, खलु इत्यादि शब्द।

अतः यास्क के मतानुसार वेद में चार प्रकार के पद आये हैं। लोकभाषा में भी इसी प्रकार आते हैं। इसका कारण यह है कि वेदों के पदों से ही लोकभाषा बनी है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि राष्ट्रभाषा (लोकभाषा) बनी तो ऋषियों ने उसमें वेदार्थ स्पष्ट किये (ऋक्० ८-१००-१०,११)। कालान्तर में व्यवहार से लोकभाषा में शब्दार्थ तथा शब्दों के उच्चारण में अन्तर आ गया। अतः विधि-विधान समान होते हुए भी भाषाओं में अन्तर आ गया है।

वेदभाषा का व्यवहार से पृथक् रहने के कारण, इसके अर्थ और भाव परस्पर सम्बन्धित रहे हैं। इन अर्थों को यौगिक अर्थ कहते हैं। ये अर्थ शब्दों के धातुओं से सम्बन्धित हैं।

इन चारों प्रकार के पदों का सविस्तार वर्णन कर यास्क निरुक्तशास्त्र के विषय में कहता है—

अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतीयतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः। (यास्क नि० १-१५)

अर्थात्—और भी इस (निरुक्तशास्त्र) के बिना मन्त्रों की प्रतीति अथवा अर्थ का ज्ञान नहीं होता। अर्थ को न जाननेवाले के लिए पूर्णरूप से स्वर और संस्कार का उपदेश नहीं है।

अभी तक हमने इस अध्याय में यह स्पष्ट किया है कि—

(१) शब्द और अर्थ का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध अटूट है।

(२) वेद-पद चार प्रकार के हैं—नाम (संज्ञावाचक), आख्यात (क्रिया), उपसर्ग (संज्ञा और क्रिया के सम्बन्ध में आनेवाले), निपात (बीच में तुलना के लिए आनेवाले)।

(३) लोकभाषा और वेदभाषा में उक्त विभाजन समान है।

(४) यह सब निरुक्त के अध्ययन से पता चल जाता है।

: २ :

यास्क की विशेषता

यास्क लिखता है—

तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्यं, स्वार्थसाधकं च।

(यास्क नि० १-१५)

अर्थात्—जो यह विद्या-स्थान (निरुक्त ग्रन्थ) है, यह व्याकरण की पूर्णता करता है और अपने स्वतन्त्र अर्थ का साधक है।

इसका अभिप्राय है कि जब व्याकरण की दृष्टि से वेदमन्त्रों के अर्थ पूर्ण नहीं होते तब निरुक्त उस (व्याकरण) के अभाव को पूरा करता है और अपने निर्वचन से अर्थ की सिद्धि करता है।

वस्तुस्थिति यह है कि वेद देवताओं द्वारा कहे गये थे। ऋषियों ने उनको सृष्टि-आरम्भ के समय मानवी भाषा में प्रकट किया। उस समय व्याकरण नहीं बना था। बाद में व्याकरणाचार्यों ने भाषा को नियमबद्ध करने का यत्न किया है। फिर भी अनेक स्थान पर व्याकरण के नियम भली-भाँति लागू नहीं होते। वेदभाषा व्याकरण के अनुसार नहीं बनी, वरन् व्याकरण भाषा के अनुसार बनाने का यत्न किया गया है। अतः जहाँ कहीं मन्त्रार्थ विषय को ठीक प्रकट नहीं कर सकते और व्याकरण अर्थों को स्पष्ट करने में अशक्त होता है, वहाँ निरुक्त अपने नियम के अनुसार अर्थ स्पष्ट करता है। अपने अर्थों का निरुक्त स्वयं साधक (उत्तरदायी) है। अभिप्राय यह कि ऊपर कहे नियमों के अनुसार कोई विलक्षण अर्थ भी कर सकता है। वे निरुक्त के नियमानुसार होने चाहिएँ।

जहाँ व्याकरणानुसार अर्थ और देवता द्वारा कहे विषय में अन्तर आए तो, निरुक्ताचार्य कहता है कि विषयानुसार अर्थ करने चाहिएँ। यह अर्थ निर्वचन कहा जाता है। अर्थ और निर्वचन में अन्तर हो सकता है, फिर भी निर्वचन शब्दार्थ के भाव से सीमित रहता है।

यौगिक और रूढ़ि अर्थ

वेद के अर्थ रूढ़ि नहीं हो सकते। रूढ़ि अर्थ तो भाषा के व्यवहार में आने पर बनते हैं। क्योंकि वेद सृष्टि के आदि में मिले और आदि-राष्ट्रभाषा में कहे गये,—तब तक भाषा व्यवहार में आई नहीं थी—, अतः तब तक शब्द के रूढ़ि अर्थ भी नियत नहीं हुए थे। वेदार्थ में रूढ़ि अर्थ की पाबन्दी नहीं है। परन्तु शब्द के कौन-से अर्थ लिये जायें और कौन-से नहीं लिये जायें, यह यास्क बताता है।

एक धातु है 'गाङ्'। यह भवादि गण का धातु है जिसका अर्थ है 'गतौ'। इससे 'गौ' जो गति करता है बना है। यह गाय, बैल, घोड़ा आदि जन्तु हो सकते हैं अथवा सूर्य, चन्द्र, तारागण आदि नक्षत्र भी हो सकते हैं; पृथिवी भी हो सकती है। इसका अर्थ वाणी भी है, कारण यह कि यह भी चलती है।

यदि किसी मंत्र में गौ शब्द अथवा इसका कोई रूप आ जाये तो कौन-सा अर्थ लगेगा? यह समस्या उत्पन्न होती है। इसमें व्याकरण सहायक नहीं होता। यहाँ शब्दार्थ के लिए निर्वचन सहायक होगा और वह मन्त्र के देवता से पता चलेगा।

वैदिक भाषा में लगभग दो सहस्र धातु हैं और उनके साथ प्रत्यय तथा उपसर्ग लगने से लाखों शब्द बन जाते हैं। उनके अर्थ, कोष तथा व्याकरण से बद्ध नहीं होते। वे निर्वचन के अधीन हैं। इसमें भी यास्क पथ-प्रदर्शक के रूप में एक स्थान पर कहता है—

अक्षरं न क्षरति। न क्षीयते वाऽअक्षरं भवति। वाचोऽक्षं इति वा। अक्षो यानस्याञ्जनात्। तत्प्रकृतीतरद्वर्तनसामान्यात्। इति।

—यास्क नि० १३-१२

अर्थात्—अक्षर खुरता नहीं अथवा नाश नहीं होता। वाणी अक्षः (धुरा) है। जैसे धुरे से चारों ओर अरे निकलते हैं, इसी प्रकार वाणी से अर्थ निकलते हैं।

यास्क सूक्ष्म शब्द की व्याख्या कर रहा है। वह कह रहा है कि शब्द है धुरा और यौगिक अर्थ हैं धुरे और चक्के को जोड़नेवाले अरे, निर्वचन। जैसे धुरे, अरों और चक्र का सम्बन्ध रहता है, वैसे ही शब्द, अर्थ और निर्वचन का सम्बन्ध रहना चाहिए।

इसके उपरान्त यास्क कहता है—

अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढः। अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः। न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः।

—यास्क नि० १३-१२

अर्थ हैं—अतः मन्त्रों के अर्थ पर विचार किया है। (अर्थ) श्रुति-प्रमाण से (परस्पर-विरोधी नहीं होने चाहिएँ), तर्क-संगत होने चाहिएँ। फिर भी प्रकरण के अनुसार (पृथक्-पृथक् नहीं)। इस प्रकार इसका निर्वचन (भाव) प्रकट करना चाहिए।

आगे कहा है—

यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति—अनुभवति॥

—यास्क नि० १३-१३

अर्थात्—(पद) जिस-जिस देवता का निर्वचन (भाव प्रकट) करता है उस (देवता) के उस (ऐश्वर्य अर्थ) को अनुभव करता है।

इसका अर्थ है कि निर्वचन जहाँ शब्दार्थ से बँधा है वहाँ देवता (मन्त्र के विषय) के साथ भी बँधा होना चाहिए।

निर्वचन और अर्थ की व्याख्या में निरुक्ताचार्य यास्क ने इस विषय को और भी स्पष्ट किया है।

कहा है—

तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्।....

—यास्क नि० २-१

अर्थात्—जिन-जिन पदों में स्वर और संस्कार (प्रत्ययः, विभक्ति आदि) समर्थ हों (अर्थ बताने में) वास्तविक पदार्थ बताने में और शास्त्र में बताये विकार से युक्त (व्याकरण के नियमों में रूप-परिवर्तन) भी (समर्थन करते हों) वैसा ही उनका निर्वचन करे (अर्थात् अर्थ और निर्वचन समान होंगे)।

आगे आचार्य कहते हैं—

अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत। केनचिद् वृत्तिसामान्येन।....

—यास्क नि० २-१

अर्थात्—और अन्विते (अर्थ संगत न होने पर) व्याकरण की प्रक्रिया से भी अर्थ नहीं बने तो अर्थ (भाव) की नित्यता पर विचार कर किसी भी वृत्ति (व्यवहार) की समानता से परीक्षा कर ले। (शब्द में धातु की समानता से अर्थ करे)।

और भी कहा है—

अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्।....

—यास्क नि० २-१

जहाँ (धातु आदि की) समानता भी न हो वहाँ अक्षर अथवा वर्ण की समानता से, स्वर-व्यंजन की समानता से निर्वचन (भाव-ज्ञान) कर ले। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मन्त्रादि के विषय (देवता) का वर्णन छोड़ कुछ-का-कुछ कहने लगे।

निर्वचन (भाव प्रकट) करते समय यह आवश्यक है कि देवता से निर्दिष्ट विषय का वर्णन न छूटे।

अतः यह अत्यावश्यक हो गया है कि देवता का ज्ञान भली-भाँति हो।

देवता का विचार करके किस प्रकार निर्वचन किया जा सकता है? इसके कुछ उदाहरण देने से भाव स्पष्ट हो जायेगा।

हम एक मन्त्र लेंगे और तीन भाष्यकारों के निर्वचन उपस्थित करेंगे। इससे पाठक समझ सकेंगे कि कौन-सा निर्वचन अधिक उपयुक्त है।

एक मन्त्र है (यह मन्त्र किसी अन्य सन्दर्भ में पहले भी दे चुके हैं, यहाँ निर्वचनों को प्रकट करने के लिए दे रहे हैं।)—

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन्॥

—ऋ० १-१६३-१

इस सूक्त का देवता है 'अश्वोऽग्निः'। निर्वचन समझने के लिए इस देवता का अभिप्राय समझना चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषद् के उद्धरण से हमने अश्व के अर्थ समझाये थे, अर्थात् जो कार्य को आगे ले जाये, व्याप्त करे।

यास्क ने अपने निरुक्त ग्रन्थ में अश्व की परिभाषा इस प्रकार की है—

....अश्वः कस्मात्? अश्नुतेऽध्वानम्। महाशनो भवतीति वा। तत्र दधिक्रा इत्येतद् दधत्क्रामतीति वा।.... —यास्क नि० २-२७

अर्थात्—अश्व क्यों? क्योंकि वह मार्ग को तय करता है। बहुत तेज़ी से गति करता है। यह बहुत खानेवाला होता है, अर्थात् किसी को धारण किये हुए पग आगे को करता है।

अतः वेगवान्, आगे बढ़नेवाले को, और जो बढ़ते हुए वस्तुओं को खाता जाता हो, अश्व कहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् में सृष्टि-रचना को वेग

से और क्रम-वार चलानेवाले को अश्व कहा है।

इस सूक्त (ऋ० १-१६३-१) में अग्नि परमात्मा का तेज है। रचना-कार्य को वेग से चलाने में अश्व का उल्लेख है।

मन्त्र का पदच्छेद इस प्रकार है—

यत्, अक्रन्दः, प्रथमम्, जायमानः, उत्, यन्, समुद्रात्, उत्, वा, पुरीषात्। श्येनस्य, पक्षा, हरिणस्य, बाहू, उपस्तुत्यम्, महि, जातम्, ते अर्वन्॥

वेंकटमाधव इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—

यदा त्वं शब्दं कृतवानसि पुरा जायमानः उद्यन् अन्तरिक्षात्, अपि वा जलात्। अद्भ्योऽन्तरिक्षाच्चाश्वो जातः। तदानीं शीघ्रं प्रादुर्भवतः श्येनस्य पक्षौ पक्षावास्ताम् हरिणस्य बाहू बाहू, तत् तव अश्व। महत् जननम् उपस्तोतव्यम्॥

अर्थात्—जब तुमने शब्द किया, पुरातन काल में उत्पन्न होते हुए अर्थात् ऊपर उठते हुए अन्तरिक्ष से, अथवा जल से। जलों से और अन्तरिक्ष से अश्व उत्पन्न हुआ। तब शीघ्र प्रकट होते हैं बाज़ के दोनों पंख, अर्थात् दोनों पक्ष थे। हरिण की दो भुजाएँ दो शक्तियों से वह तुम्हारा है। हे अश्व! महान् जन्म स्तुति के योग्य है।

सायण इस प्रकार भाष्य करता है—

हे अर्वन् अरणकुशलाश्व ते तव जातं जन्म जननम् उपस्तुत्यम् उपेत्य सर्वैः स्तोतव्यम्॥ स्तौतेः एतिस्तुशास्वृ इति क्यप्। ततः तुक्॥ कथं स्तुत्यत्वमिति उच्यते। यत् यस्मात् समुद्रात्। अन्तरिक्षनामैतत्। उदकसमुन्दनापादानात् यक्षगन्धर्वादिसंमोदनाधिकरणात् वा अन्तरिक्षात्। प्रथमं पूर्वं जायमानः उत्पन्नः। यद्वा। समुद्रः आदित्यः समुन्दनात् वृष्ट्या। तस्माद्वा जायमानः। 'सूरादश्वं वसवो निरतष्ट' (ऋ० सं० १-१६३-२)। इति वक्ष्यमाणत्वात्। उत वा अथवा पुरीषात् सर्वकामानां पूरकात् उदकात् प्रथमम् उद्यन् जायमानः। स तादृशस्त्वं यत् यस्मात् अक्रन्दः महाशब्दमकरोः यजमानमनुग्रहीतुम्। किंच ते पक्षा पतनसाधनौ पक्षौ श्येनस्य पक्षाविव। तौ यथा शीघ्रपतनसाधनौ तादृशावित्यर्थः। तव बाहू हरिणस्य बाहू इव। तौ यथा वेगवन्तौ तादृशावित्यर्थः। यस्मादेवं तस्मात्ते जन्म स्तुत्यमित्यर्थः॥

अर्थात्—हे अर्वन्! तेज़ चलने में कुशल तुम्हारा जन्म सबसे स्तुति किये जाने योग्य है। स्तु धातु में 'एतिस्तुशास्वृ' इत्यादि सूत्र से क्यप् प्रत्यय

हुआ। उससे तुक् प्रत्यय। कैसे स्तुति योग्य (है) इस विषय में कहा जाता है। जहाँ से—समुद्रात्, यह अन्तरिक्ष का नाम है। उदक (भिगो देनेवाले उपादान से) अथवा यक्षगन्धर्वादि की प्रसन्नता के आश्रय से अन्तरिक्ष में। पहले उत्पन्न हुआ। अथवा, समुद्र आदित्य है—भिगो देने से वृष्टि से। अथवा उससे उत्पन्न होता हुआ। ऋ० १-१६३-२ में कहा है कि 'सूर्य से अश्व को वसुओं ने रचा' यह कहा जायेगा। अथवा सब कामनाओं के पूर्ण करनेवाले जल से पहले उत्पन्न होता हुआ। ऐसा तूने जिस कारण से महान् शब्द किया। यजमान पर कृपा करने के लिए। और तेरे उड़ने के साधन दोनों पक्ष श्येन के पक्षों के समान। वे दोनों जैसे शीघ्र उड़ने के साधन वैसे यह अर्थ है। तुम्हारी दो भुजाएँ हरिण की भुजाओं के समान। वे जैसी वेगवाली हैं, वैसे यह अर्थ है। इसलिए तुम्हारा जन्म स्तुति के योग्य है। यह अर्थ है।

अब इसी मन्त्र पर स्वामी दयानन्द सरस्वती का भाष्य देखिये—

यत् = यस्मात् कारणात्। अक्रन्दः = शब्दायसे। प्रथमम् = आदिमम्। जायमानः = उत्पद्यमानः। उद्यन् = उदयं प्राप्नुवन्। समुद्रात् = अन्तरिक्षात्। उत = अपि। वा = पक्षान्तरे। पुरीषात् = पूर्णात्कारणात्। श्येनस्य = पक्षपक्षौ। हरिणस्य बाहू = बाधकौ भुजौ। उपस्तुत्यम् = उपस्तोतुमर्हम्। महि = महत्। जातम् = उत्पन्नम्। ते = तव। अर्वन् = विज्ञानवन्।

स्वामी दयानन्द ने भावार्थ पृथक् लिखा है।

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जो धर्मयुक्त ब्रह्मचर्य से विद्याओं को पढ़ते हैं वे सूर्य के समान प्रकाशवान्, बाज़ के समान वेगवान् और हरिण के समान कूदते हुए प्रशंसित होते हैं।

स्वामी दयानन्द जी का भाष्य वैंकटमाधव और सायण दोनों से भिन्न है। स्वामी जी ने मन्त्र के देवता की ओर ध्यान दिया प्रतीत नहीं होता।

हम इस मन्त्र का भाष्य इस प्रकार करते हैं—

श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू = बाज़ के पंखों तथा हरिण की बाहों के समान वेगगामी। अर्वन् = तीव्र गति से चलनेवाला = तेज़। उत्-यन् समुद्रात् = समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष से ऊपर को जाता हुआ। यत् अक्रन्दः = जिससे घोर शब्द हुआ। प्रथमम् जायमानः = पहले उत्पन्न होता हुआ। उत वा पुरीषात् = अथवा सब कामना पूर्ण करनेवाले हो। ते महि जातम् उपस्तुत्यम् = वह महान् उत्पन्न हुआ स्तुति अर्थात् मनन और चिन्तन करने

योग्य है।

हमारा भाष्य ऊपर के तीनों विद्वानों से भिन्न है। हम समझते हैं कि हमारा भाष्य देवता से अधिक संगति रखता है। स्वामी जी ने 'अश्वो-अग्निः' का अर्थ ब्रह्मचारी किया है।

वैंकटमाधव और सायण ने मन्त्रार्थ तो सृष्टि-रचनापरक ही लगाये हैं, फिर भी उनका निर्वचन हमसे भिन्न है। हमने महि का अर्थ महत्, जिसे कपिल प्रकृति की साम्यावस्था भंग होने पर प्रथम परिणाम मानता है, किया है।

अर्वन् का अर्थ मोनियर विलियम्ज़ करते हैं : running quick (said of Agni and Indra)। इसका अभिप्राय है परमात्मा का तेज।

शतपथ ब्राह्मण में प्राणों के स्वामी को इन्द्र कहा है। वहाँ लिखा है—

सोऽयं मध्ये प्राणः। एष ऽ एवेन्द्रस्तानेष प्राणान्मध्यतः ऽइन्द्रियेणेन्द्ध···

शꣳब्रा० ६-१-१

अर्थात्—यह प्राण ही मध्य में इन्द्र है। इसी इन्द्र ने अपने इन्द्रिय अर्थात् पराक्रम से मध्य में इन प्राणों को दीप्त किया।

अतः अर्वन् से अभिप्राय है (आदि प्राण), यथा मन्त्र १०-१२९-३ 'यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्'।

अर्थात्—वह तपस् के महान् सामर्थ्य से एक प्रकट हुआ। हम अर्वन् और अश्व को समानार्थवाचक मानते हैं। रचना-कार्य को आरम्भ करनेवाला अश्व, अर्वन् अथवा तेज है।

: ३ :

देवता

यह हम बता चुके हैं कि सूक्त, मन्त्र अथवा मन्त्रांश के ऊपर लिखा देवता उस सूक्त, मन्त्र अथवा मन्त्रांश का विषय होता है। उस सूक्त, मन्त्र अथवा मन्त्रांश में उसी विषय पर कथन होता है। हमने यह भी बताया है कि जहाँ व्याकरण का सामंजस्य मन्त्र-विशेषताओं (संस्कारों) से न बैठे, वहाँ देवता (विषय) का ध्यान रखते हुए व्याकरण का भी उल्लंघन किया जा सकता है।

यह बात समझ में भी आती है, क्योंकि वेद व्याकरण बनने से भी पहले कहे गये थे। व्याकरण मनुष्यकृत होने से वेद-वाणी को सीमाओं में बाँधने में सफल नहीं हो सका। वेद का सम्बन्ध भाव, प्रकरण अर्थात् देवता से अधिक होता है और व्याकरण के नियमोपनियमों से कम।

ऋग्वेद में इस प्रकार के विषयसूचक देवता लगभग सवा पाँच सौ हैं। यजुर्वेद में इनकी संख्या लगभग तीन सौ है। अथर्ववेद में बहुत-से मन्त्र ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के ही हैं और उनके देवता प्रायः समान हैं। कहीं-कहीं मन्त्र-भेद न होते हुए भी देवता भिन्न हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी भिन्न हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि एक ही मन्त्र, ऋषियों ने दो भिन्न-भिन्न विषयों पर कहा है।

यह हम 'बृहद्देवता' ग्रन्थ के प्रमाण से बता चुके हैं कि मन्त्र के देवता मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने नियत किये थे। मन्त्रों के देवता नियत करने के उपरान्त ही मंत्रों का मण्डलों, सूक्तों में विषयानुसार विभाजन किया गया था।

इन विषय-सूचक देवताओं के अतिरिक्त भी देवताओं का कथन वेदमंत्रों के बीच में आया है। इस विषय में एक मन्त्र इस प्रकार है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

ऋ० १-१६४-४६

इस मन्त्र में इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्व आदि बहुत-से देवताओं को परमात्मा का वाचक माना है।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या मन्त्र के बीच में आनेवाले देवता का अर्थ दूसरा होता है और विषयसूचक स्थान पर आये देवता का अर्थ दूसरा होता है? इसमें हमारा मत है कि ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। वस्तुस्थिति यह है कि वेद के अन्य शब्दों और पदों की भाँति ये भी यौगिक अर्थवाले होते हैं। जहाँ जो अर्थ उपयुक्त प्रतीत हों वही अर्थ लग सकते हैं।

पूर्वोक्त मन्त्र में ही इन्द्र, मित्र, वरुण इत्यादि शब्दों का अर्थ परमात्मा है। ये सब नाम परमात्मा के भी हैं। विद्वान् लोग परमात्मा के विषय में अपने भाव प्रकट करने के लिए भिन्न-भिन्न नामों का प्रयोग करते हैं।

परन्तु यह बात सब मन्त्रों में नहीं है। देवताओं के अर्थ भी तो मन्त्र को देखकर ही पता चलते हैं। वास्तव में मन्त्र और देवता अन्योन्याश्रित हैं। दोनों, देवता और मन्त्रार्थ का विचार करके ही अर्थ किये जाते हैं। प्रायः देवताओं के अर्थ निश्चित होते हैं और मन्त्रार्थ उस देवता को विचारकर किये जाते हैं। ऋचाओं में आनेवाले देवताओं के अर्थ मन्त्रार्थ के अनुसार किये जाते हैं।

प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या मन्त्र के तीन अथवा अधिक प्रकार के अर्थ होते हैं? इस विषय में हमारा मत है कि नहीं। इसमें निरुक्त और स्वामी दयानन्द का मत हम आगे चलकर बताएँगे।

यहाँ हमारा प्रयोजन केवल इतना स्पष्ट करने से ही है कि मन्त्र-सूक्तादि के ऊपर विषयसूचक आए देवता, और मन्त्र के बीच में आए देवता में अन्तर नहीं। दोनों समान रूप में प्रयुक्त होते हैं।

वेद में कहे गये सब देवताओं के विषय में तो कहा नहीं जा सकता। इसके लिए जहाँ स्थान का अभाव है, वहाँ अपनी योग्यता की भी सीमा है। फिर भी कुछ-एक देवताओं के विषय में हम यहाँ कुछ व्याख्या से वर्णन करना चाहते हैं। इससे वेदों को समझने में सहायता मिलेगी। उससे पूर्व हम देवताओं के विषय में यास्क का मत लिख देना चाहते हैं।

यास्क कहता है—

देवानां निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन्माध्यमिका देवगणाः। प्रथम इति मुख्यनाम। प्रतमो भवति। —निरुक्त २-२२

अर्थात्—देवों के निर्माण होने से प्रथम माध्यमिक एक गण है। यहाँ प्रथम का अभिप्राय है मुख्य अर्थात् सर्वश्रेष्ठ।

इस वाक्य का अभिप्राय यह बनता है कि जो माध्यमिक देवता है वह मुख्य है, अर्थात् उसका प्रभाव इस पृथिवी पर सबसे अधिक है। इस संदर्भ में यास्क निम्न वेदमन्त्र का उद्धरण देता है—

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्।
त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्॥

—ऋ० १०-२७-२३

अर्थ है—देवानाम् माने = देवताओं के निर्माण के समय। प्रथमा अतिष्ठन्—पहले स्थित हुए (परमात्मा के आदेश से)। एषाम् कृन्तत्रात् = (परमाणुओं की) जोड़-मोड़ से; उपरा उत् आयन् = उपरा (अहंकार) उत्पन्न हुए (देखो ऋ० १-१६३-३)। त्रयः तपन्ति = तीन तपते हैं; पृथिवीम् अनूपा = पार्थिव पदार्थ बने। द्वा बृबूकम् = इनमें से दो बरसने लगे। (अभिप्राय यह कि इन तीन में से वैकारिक अहंकार और भूतादि अहंकार कार्यरत हुए) वहतः पुरीषम् = कामना पूर्ण करनेवाले तैजस् अहंकार बहने लगे अर्थात् इधर-उधर उड़ने लगे।

ये अर्थ यास्क द्वारा किये अर्थों से कुछ भिन्न हैं। अन्तर निर्वचनों में है। शब्दार्थ वही हैं।

इसी विषय में मनुस्मृति में निम्न श्लोक मिलते हैं—

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा।
ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम्॥

—मनु० १-१२, १३

हिरण्यगर्भ की अवस्था का वर्णन है। उस अण्डे में एक सम्वत्सर-भर भगवान् ने तपस्या की और तब अण्डा फूटा जिससे द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष उत्पन्न हुए।

इससे यह स्पष्ट होता है कि देवताओं का अर्थ सृष्टि के दिव्य गुणयुक्त पदार्थ हैं। प्रथम-स्थानीय देवता तो परमात्मा का तेज था। (देखें ऋ० १०-१२९-३) उसने रचना आरम्भ की। उसके उपरान्त मध्य-स्थानीय देवता बने।

भाष्यकार मध्य-स्थाना का अर्थ करते हैं जो अन्तरिक्ष में स्थित हैं। हमारा विचार है कि इस शब्द के अर्थ हैं वे दिव्य गुणयुक्त पदार्थ जो सृष्टि-रचना-क्रम में पहले के उपरान्त बने।

अब हम मध्यस्थानीय देवताओं की व्याख्या करेंगे कि सृष्टि-रचना-क्रम में मध्य में कौन-कौन देवता हैं।

एक वेदमन्त्र (ऋ० १-१६३-१) हम पहले बता चुके हैं। वह प्रथम-स्थानीय देवता के विषय में है। वहाँ उसे अर्वन् कहा है। कहा है कि वह बहुत तीव्र गति से भागता है। घोर गर्जन करता है। वह परमात्मा की प्रेरणा से कार्य करता है।

इस प्रथम-स्थानीय देवता के विषय में एक अन्य वेदमन्त्र है, परन्तु उस मन्त्र को लिखने से पूर्व यह अधिक उचित होगा कि उन मन्त्रों को भी दे दिया जाय जो उस अवस्था का वर्णन करते हैं जिसमें यह प्रथम-स्थानीय देवता अर्थात् परमात्मा का तेज काम करता है। ये मन्त्र इस प्रकार हैं—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ १॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥ २॥

—ऋ० १०-१२९-१,२

अर्थ है—तदानीम् = इस जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व। न असत् आसीत् = असत् अर्थात् टूटने-फूटनेवाला कुछ नहीं था। न सत् आसीत् = न ही सत् (दिखाई देता) था। न रजः आसीत् = लोक नहीं थे। नो व्योमा = आकाश नहीं था। यत् परः = जो (व्योम से भी) परे था (नहीं था)। किम् आ अवरीवः = क्या था जो सबको चारों ओर से घेरे हुए था? कुह = फिर यह कहाँ था? कस्य शर्मन् = किसके आश्रय था? किम् = क्या था? गहनम् गभीरं अम्भः आसीत् = गहन और समुद्र की भाँति गम्भीर क्या था?

इस मन्त्र में सृष्टि-रचना से पूर्व की अवस्था का वर्णन किया है। अगले मंत्र का अर्थ इस प्रकार है—

मृत्युः न आसीत् = उस समय नष्ट होने योग्य (कुछ) नहीं था। तर्हि न अमृतम् = और न ही कुछ न नष्ट होनेवाला था। न रात्र्या प्रकेतः आसीत् = रात्रि का भी ज्ञान नहीं था। न अह्नः प्रकेतः आसीत् = दिन का भी ज्ञान

नहीं था। (तो क्या था? उसका वर्णन किया है) तत् एकम् आनीत् अवातम् = वहाँ एक गतिरहित प्राण था। स्वधया = अपने बल से (टिकी स्वधा) थी। तस्मात् किं चन परः न आस = उससे परे कुछ नहीं था।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सृष्टि-रचना से पूर्व दो वस्तुएँ थीं— एक निश्चल प्राणशक्ति; और दूसरे, अपने ही बल से स्थिर स्वधा (प्रकृति)।

यह अवस्था थी, जब प्रथम-स्थानीय देवता उत्पन्न हुआ।

तम आसीत्तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतम् सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥ ३॥

—ऋ० १०-१२९-३

अर्थ है—अग्रे = सृष्टि से पूर्व। तमः आसीत् = अन्धकार था। (यह तमसा गूळहम् = अन्धकार से व्याप्त था। (वह) अ प्रकेतम् = कुछ भी विशेष जानने योग्य न था। (वह) सलिलम् = बह जानेवाला द्रव्य था। सर्वम् इदम् आ = अथवा वह सब (एक) था। यत् तुच्छ्येन = जो अति सूक्ष्म था। आभू अपिहितम् = चारों ओर से ढका हुआ था। तत् तपसः महिना एकम् अजायत = तप से एक महान् प्रकट हुआ।

जो अवस्था ऊपर के दो मन्त्रों में वर्णन की है उसमें (सलिल प्रकृति में) तप से महान् हुआ एक उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होने का अभिप्राय प्रकट होना है। यह प्रकट होनेवाला परमात्मा का तेज है, जो प्रथम-स्थानीय देवता है। पहले वह निश्चल था, बाद में गति में आ गया।

यह जो एक प्रकट हुआ उसने क्या किया?

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

—ऋ० १०-१२९-४

अर्थात्—कामः समवर्तत = कामना सर्वत्र विद्यमान थी। अग्रे = पहले। तत् मनसा अधि = वह मन से उत्पन्न होनेवाली (यहाँ मन से अभिप्राय मनस्वी परमात्मा से है)। यत् प्रथमम् रेतः आसीत् = जो (कामना) पहला बीज था। बन्धुम् असति सतः निरविन्दन् = अव्यक्त को सत् में बाँधनेवाला हुआ। कवयो मनीषा हृदि प्रतीष्या = उस महान् मननशील परमात्मा ने हृदय में विचार कर (यह आरम्भ किया)।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि परमात्मा जो महान् विद्वान् और

विचारवान् है, उसने विचारकर अव्यक्त प्रकृति को अपने तेज से व्यक्त में बाँध दिया।

वह तेज जो स्वरूपवान् नहीं था, उसने अस्वरूपवान् प्रकृति को बाँध-कर स्वरूपवान् पदार्थों में बदल दिया।

उस तेज ने किस प्रकार अपना कार्य किया? यह भी लिखा है—

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधः अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥

—ऋ० १०-१२९-५

अर्थात्—रश्मिः तिरश्चीनः विततः एषाम् = टेढ़ी चलनेवाली (तेज की किरणें) फैल गईं; इनके (परमाणुओं के) अधः स्वित् आसीत् उपरिस्वित् आसीत् = नीचे और ऊपर हो गईं। रेतोधा आसन्महिमा आसन् = महिमा वाले (परमाणु) जो रेतस् (बीज) धारण करनेवाले थे। स्वधा अवस्तात् = प्रकृति नीचे हो गई। परस्तात् प्रयतिः = शक्ति (तेज) ऊपर हो गई।

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि तेज, किरणों की भाँति तिरछा चलता हुआ, प्रकृति परमाणुओं के नीचे और ऊपर छा गया। प्रकृति के परमाणु नीचे हो गये और तेज ऊपर हो गया।

प्रथम दिव्य-पदार्थ का बहुत ही स्पष्ट वर्णन इन मन्त्रों में मिलता है। यह प्रथम-स्थानीय देवता एक ही था। इसे अग्नि, प्राण इत्यादि का नाम भी दिया जाता है।

मध्य-स्थानीय देवताओं में मुख्य वायु है। इसके विषय में यास्क अपने निरुक्त में लिखता है—

अथातो मध्यस्थाना देवताः। तासां वायुः प्रथमागामी भवति।

—या० नि० १०-१

अर्थात्—अब मध्य-स्थानवाले देवताओं का वर्णन करेंगे। उनमें वायु प्रथम (प्रमुख) माना जाता है।

मध्य-स्थानीय का अर्थ है सृष्टिक्रम के मध्य में। हमने बताया है कि परमात्मा का तेज प्रथम-स्थानीय देवता है। यह सबसे पहले उत्पन्न हुआ। ऋग्वेद के मन्त्र के अनुसार इस (तेज) ने प्रकृति में परिणाम उत्पन्न करने आरम्भ किये। तब प्रकृति में से अन्य दिव्य गुणयुक्त पदार्थ (देवता) उत्पन्न हुए। ये सब मध्य-स्थानीय देवता हैं। इनमें वायु प्रमुख था।

प्रमुख से अभिप्राय पहले बननेवाला नहीं। इसका अभिप्राय है कि वायु अन्य मध्य-स्थानीय देवताओं में अधिक महत्त्वपूर्ण देवता है।

सांख्य के अनुसार इसे देखें तो यह इस प्रकार होगा। परमात्मा की शक्ति से परमाणुओं की साम्यावस्था भंग हुई। साम्यावस्था भंग होने का (हमारे विचारानुसार) अभिप्राय यह है कि सत्त्व, रजस्, तम गुण जो अन्तर्मुखी थे, बहिर्मुखी हो गये। तब उनमें आकर्षण-विकर्षण होने लगा।[१] तब महत् बना और महत् से अंहकार बने। अहंकारों से तन्मात्रा बनीं।

अभिप्राय यह है कि वायु या तो पाँचों तन्मात्र-समूह को कहा जा सकता है अथवा उनमें से एक को। हमारा मत है कि वायु से अभिप्राय पाँचों, तन्मात्र-समूह से है। हमारे मत की पुष्टि बृहदारण्यक उपनिषद् के इस पाठ से होती है—

एक बार आरुणि उद्दालक ने याज्ञवल्क्य से कहा, "मैं मद्र देश में यज्ञशास्त्र का अध्ययन करते हुए कपि-गोत्रोत्पन्न पतञ्जल के घर रहता था। उसकी भार्या गन्धर्व द्वारा गृहीत थी। हमने उस गन्धर्व से पूछा कि वह कौन है? उसने कहा कि वह अथर्वणकबन्ध है। उसने कपि-गोत्रीय पतञ्जल और उसके याज्ञिकों से पूछा कि क्या हमें बता सकते हैं कि जिसके द्वारा यह लोक-परलोक और सारे भूत ग्रथित हैं वह क्या सूत्र है?

तब उस काप्य पतञ्जल ने कहा, 'भगवन्! मैं नहीं जानता।'

आरुणि ने कहा, 'हे याज्ञवल्क्य! क्या इस सूत्र के विषय में तुम जानते हो?'

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'हाँ, मैं जानता हूँ।'

आरुणि ने कहा, 'जानते हो तो बताओ।'

याज्ञवल्क्य ने बताया—

"**स होवाच वायुर्वै गौतम! तत् सूत्रं, वायुना वै गौतम! सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति तस्माद् वै गौतम! पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रँसिषतास्याङ्गानीति। वायुना हि गौतम सूत्रेण! सन्दृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्याऽन्तर्यामिणं ब्रूहीति**" बृ० उ० ३-७-२

अर्थात्—हे गौतम! वायु ही वह सूत्र है। वायुरूप सूत्र के द्वारा ही ये लोक, परलोक और समस्त भूत-समुदाय गुँथे हुए हैं। हे गौतम! किसी मृत

---

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखें लेखक की रचना 'विज्ञान और विज्ञान'।

पुरुष को देखके ऐसा कहते हैं कि इसके अंग विस्रस्त (विशीर्ण) हो गये हैं, क्योंकि हे गौतम ! वे वायुरूप सूत्र से ही संग्रथित होते हैं ।

आरुणि ने कहा, 'हे याज्ञवल्क्य ! ठीक है । यह ऐसा ही है । अब तुम अन्तर्यामी का वर्णन करो ।'

कपिल ने सांख्यदर्शन में कहा है—

स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य । —सां० १-६२

अर्थात्—स्थूल जगत् को देखकर तन्मात्र-गण का ज्ञान होता है ।

अभिप्राय यह है कि याज्ञवल्क्य जिसे वायु कहता है, उसे ही कपिल पञ्च तन्मात्र-गण कहता है । जो बात याज्ञवल्क्य ने वायु से सम्पन्न होती कही है, वही सांख्य के विचार से तन्मात्र-गण से हो रही कही गई है । इसी कारण हमने कहा है कि सांख्यदर्शन में कही तन्मात्र बृहदारण्यक की वायु है और यही मध्य-स्थानीय मुख्य देवता है ।

सृष्टि-क्रम इस प्रकार है—

साम्यावस्था भंग परमाणु→महत्→अहंकार→तन्मात्र-गण→पंच स्थूल महाभूत→जगत् के सब चराचर पदार्थ ।

यास्क ने वायु के कार्य का वर्णन करने के लिए निम्न वेदमन्त्र उद्धृत किया है—

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृताः । तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥

—ऋ० १-२-१

अर्थात्—हे वायु, आओ और जगत् के पदार्थों को सुन्दर बनाओ । उनको पियो अर्थात् उनको स्थिर रखो (जिससे वे सुन्दर बने रहें) । हमारे इस आह्वान को सुनो ।

अभिप्राय यह है कि वेद भी यह कहता है कि वायु ही सब पदार्थों को स्वरूप में ग्रथित किये हुए है ।

वायु के अतिरिक्त और भी मध्य-स्थानीय देवता हैं ।

हमने एक मन्त्र (ऋ० १०-२७-२३) पृष्ठ ५५ पर लिखा है । उसमें कुछ के लिए 'प्रथमा' शब्द आया है । इस मन्त्र के भाष्य में यास्क कहता है कि 'प्रथमा' शब्द का अर्थ है मुख्य ।

इसका अभिप्राय यह है कि वायु के अतिरिक्त भी मध्य-स्थानीय देवता हैं । वायु के साथ इन्द्र का घना सम्बन्ध माना गया है । इन्द्र के विषय में यास्क एक मन्त्र देता है । मन्त्र इस प्रकार है—

आसस्राणासः शवसानमच्छेन्द्रं सुचक्रे रथ्यासो अश्वाः।
अभि श्रव ऋज्यन्तो वहेयुर्नू चिन्नु वायुरमृतं वि दस्येत्॥

—ऋ० ६-३७-३

इस सूक्त का देवता इन्द्र है। यास्क इन्द्र को मध्य-स्थानीय देवता मानता है। मध्य-स्थानीय का अर्थ भाष्यकारों ने 'अन्तरिक्ष में स्थित' माना है। हम ऐसा नहीं मानते। हमारे विचार में मध्य-स्थानीय का अभिप्राय है सृष्टि-रचना-क्रम में जो मध्य में बने। इस कारण हम इन्द्र को भी वायु की भाँति सृष्टि-रचना-क्रम में मध्य में बना कोई दिव्य गुणयुक्त पदार्थ मानते हैं। यह वायु के उपरान्त अथवा उसके साथ ही बना प्रतीत होता है।

महर्षि दयानन्द इस सूक्त में इन्द्र को मनुष्यपरक मानते हैं। हम मनुष्य को न तो अपने विचार से और न ही अन्य भाष्यकारों के विचार से मध्य-स्थानीय मानते हैं। अन्य भाष्यकारों के विचार से यह पृथिवी-स्थानीय देवता हैं। हम मनुष्य को देवता तो मानते हैं, इसे भी विश्व-देवताओं में (ऋ० १-१६४-१ में) गिनाया गया है, परन्तु यह मध्य-स्थानीय नहीं है। सृष्टि-क्रम में यह अन्तिम-स्थानीय है। अतः हम इन्द्र का अर्थ मनुष्य अथवा राजा नहीं मानते।

यास्क इस वेदमंत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

चारों ओर से सरकनेवाले, अति बलवाले इन्द्र को रथ में अश्व से जुते हुए कल्याणकारी चक्राकार गति में ऋजु गति से अन्न के आश्रित है, वायु से अमृत अर्थात् निरंतर चलनेवाला है। यह नष्ट न हो।

हम समझते हैं कि इस मंत्र में एक परिमण्डल का चित्र खींचकर इन्द्र का अभिप्राय तैजस् अहंकार बताया है।

कहा है कि इन्द्र ऋजु गति से चल रहा है। मोनियर विलियम्ज़ ने अपने शब्दकोष में ऋजु के कई अर्थों में से यह अर्थ भी दिये हैं—'motion like planets' अर्थात् ग्रहों की भाँति गति।

तैजस् अहंकार एक परिमण्डल में वैकारी और भूतादि अहंकारों के आश्रय (आकर्षित) चारों ओर अतिवेग से चक्र लगा रहे होते हैं। मंत्र में अन्न के आश्रय कहा है। यहाँ अन्न का अभिप्राय है महत् जिसके परिणाम में सब-कुछ बना। ये वैकारिक और भूतादि अहंकार ही हैं।

अतः मंत्र का अर्थ है कि इन्द्र वायु के बल से सरकता है।

तैजस् अहंकार परिमण्डल में एक तन्मात्र के बल से ही निरन्तर घूमा

करता है[१]। तैजस् अहंकार की गति वैकारिक और भूतादि अहंकारों के चारों ओर वैसी ही है जैसी सूर्य के चारों ओर ग्रहों की है। इसी कारण इस गति को ऋजु कहा है।

वर्तमान विज्ञान के अनुसार विद्युत् तैजस् अहंकारों का ऐक प्रवाह-मात्र है। अतः वैज्ञानिक दृष्टि से इन्द्र विद्युत् हुआ।

वैसे यास्क ने निरुक्त में लिखा है—

इन्द्रप्रधानेत्येके। नैघण्टुकं वायुकर्म। उभयप्रधानेत्यपरम्। १०-३

अर्थात्—इन्द्र प्रधान (मुख्य) है। ऐसा कई-एक आचार्यों का मत है और वायु का कर्म गौण है। दोनों प्रधान हैं। यह अपर (दूसरा) पक्ष है। अभिप्राय यह है कि वायु और इन्द्र दोनों समान शक्तिवाले हैं। दोनों विद्युत् (तैजस अहंकारों) को गति देनेवाली शक्ति होने से समान महत्त्व के देवता हैं। यद्यपि कुछ भाष्यकार एक को प्रधान कहते हैं और कुछ दूसरे को।

इसी प्रकार वरुण भी मध्य-स्थानीय देवता है।

कभी यह देखने में आता है कि बादल आते हैं और बरसते नहीं। कभी विद्युत् भी चमकती रहती है। वेद का कहना है कि विद्युत् में एक विशेष दिव्य गुणयुक्त शक्ति होती है, जिससे बादलों में बहुत ही सूक्ष्म बूँदें बड़ी-बड़ी बूँदें बन बरसने लगती हैं। वह शक्ति वरुण कहाती है। वर्तमानकाल का ऋतु-सम्बन्धी विज्ञान अभी इस विषय में कुछ जानता प्रतीत नहीं होता। यही कारण है कि वर्षा-सम्बन्धी भविष्यवाणी प्रायः मिथ्या हो जाती है।

इस विषय में एक वेदमन्त्र इस प्रकार है—

नीचीनबारं वरुणः कबन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम॥

—ऋ० ५-८५-३

अर्थात्—वरुण ने मेघ (बादल को) को नीचे की ओर द्वार वाला विशेष रूप से किया। इससे आकाश और पृथिवी अन्तरिक्ष में और भुवन की भूमि जल-थल हो गई। इससे जौ (खेतों की उपज) भरपूर हुए।

पहले संगठन करनेवाली वायु का वर्णन किया, फिर विद्युत् का वर्णन किया और अब विद्युत् से मेघों से वर्षा का वर्णन किया है।

---

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखें—लेखककृत 'विज्ञान और विज्ञान' एवं 'सांख्यदर्शन—सरल सुबोध भाषा-भाष्य' में तन्मात्र-गण पर व्याख्या।

महर्षि दयानन्द इस सूक्त के देवता वरुण को परमात्मा मानते हैं और उन्होंने मन्त्रार्थ परमात्मापरक किया है।

वायु, विद्युत् और वर्षा का परस्पर घना सम्बन्ध है। वर्तमान विज्ञान भी यह मानता है। स्वामी दयानन्द की यह प्रतिज्ञा कि 'ऋक् का अर्थ है स्तुति अर्थात् पदार्थों के गुण, कर्म, स्वभाव जानने का यत्न; ऋग्वेद हुआ पृथिवी से लेकर परमात्मा-पर्यन्त सब पदार्थों के गुण, कर्म, स्वभाव का ज्ञान', सर्वथा सिद्ध है।

यास्क निरुक्त में देवताओं के प्रकरण का सारांश इस प्रकार कहता है—

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। —या० नि० ७-५

निरुक्त के अनुसार तीन ही देवता हैं। अग्निः, पृथिवी स्थान वाला। वायु वा इन्द्र अन्तरिक्ष स्थान वाला। सूर्य द्यु स्थान वाला। इनके महान् ऐश्वर्यवाला होने से एक-एक के भी बहुत नाम होते हैं।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ प्रथम-स्थानीय, मध्य-स्थानीय इत्यादि पद प्रयोग नहीं किये। यहाँ नवीन पदों का प्रयोग किया है। वे हैं पृथिवी और अन्तरिक्ष-स्थानीय। दोनों के अर्थों में अन्तर है। अतः इन पदों का किसी प्रकार से प्रथम और मध्यम-स्थानीय से सम्बन्ध नहीं है। प्रथम और मध्यम-स्थानीय से सम्बन्ध, जैसा हम ऊपर बता चुके हैं, सृष्टि-रचना-क्रम में स्थान से है, परन्तु पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु स्थान से अभिप्राय बन चुके जगत् में स्थानों से है। यहाँ पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु-स्थानीय देवता, सब-के-सब, मध्य-स्थानीय देवता ही हैं। प्रथम-स्थानीय देवता तो केवल एक ही है, परमात्मा का तेज। केवल वह ही सामर्थ्य रखता है कि प्रकृति के परमाणुओं की साम्यावस्था को भंग कर सके।

कपिल मुनि भी सांख्य दर्शन में लिखते हैं—

निजमुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रं परं न समानत्वम्॥

—सांख्य० १-८६

अर्थात्—अपने को मुक्त करने (परमाणुओं की साम्यावस्था भंग होने) की वस्तुओं के सामान्य विघटन से कोई तुलना नहीं।

अभिप्राय यह कि सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था का भंग होना एक

बहुत ही महान् कार्य है। जगत् के पदार्थों का टूटना-फूटना बहुत ही सामान्य कार्य है।

यही हमारा अभिप्राय है कि सृष्टि-रचना कार्य आरम्भ करना अति महान् और दुस्तर कार्य है। इसको केवल परमात्मा का तेज ही कर सकता है। मध्य-स्थानीय देवता इस कार्य को नहीं कर सकते।

: ४ :

त्र्यर्थक ऋचाएँ

देवताओं की विवेचना के उपरान्त यह प्रश्न उपस्थित होता है—क्या वेद के प्रत्येक मन्त्र के तीन अथवा अधिक प्रकार से अर्थ किये जा सकते हैं? यह माना जाता है कि वेद के तीन प्रकार से अर्थ किये जा सकते हैं। कुछ-एक ब्राह्मण-ग्रन्थों का तो यह भी मत है कि वेदार्थ याज्ञिक अर्थात् यज्ञपरक भी होते हैं।

किन्तु ऐसा नहीं है। सब ऋचाओं के सब प्रकार के अर्थ नहीं हो सकते। यास्क का भी ऐसा ही मत प्रतीत होता है।

यास्क कहता है—

....**सैषा देवतोपपरीक्षा। यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। तास्त्रिविधा ऋचः—परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च।** —या० नि० ७-१

अर्थात्—अब देवता की उपपरीक्षा (सूक्ष्म परीक्षा) है (अभिप्राय यह है कि विषय की सूक्ष्म परीक्षा की जा रही है)। जिस कामनावाला ऋषि (मन्त्र में) जिस विषय की इच्छा करता हुआ मन्त्र में स्तुति करता है, वह उस मन्त्र का देवता होता है। उन ऋचाओं को समक्ष रखकर कहा गया है कि ऋचा तीन प्रकार की हैं—परोक्ष रूप में अर्थ प्रकट करनेवाली, प्रत्यक्ष रूप से अर्थ बताने वाली और जो आध्यात्मिक अर्थ प्रकट करती हैं अर्थात् जो चेतन तत्त्व के विषय में बताती हैं।

आगे कहा है—

तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते।

अर्थात्—वहाँ 'परोक्षकृताः' में सब विभक्तियों में नाम आते हैं, परन्तु क्रिया प्रथम पुरुष में ही होती है।

इसका अभिप्राय यह है कि इन मन्त्रों में देवता का वर्णन होता है परोक्ष रूप में। उदाहरण के रूप में—

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः.... —ऋ० १०-८९-१०

अर्थात् इन्द्र द्युलोक और पृथिवी का स्वामी है। इसमें इन्द्र स्वयं कर्त्ता नहीं। परोक्ष रूप में उसका वर्णन किया गया है।

जब देवता का वर्णन प्रत्यक्ष रूप में हो तो ऋचा प्रत्यक्षकृता कहाती है। जैसे—

त्वम् इन्द्र बलात् सहसो अधि जात ओजसः।

—ऋ० १०-१५३-२

अर्थात्—इन्द्र, तू अपने बल से जाना जाता है।

जब देवता स्वयं अपना वर्णन करे, वे ऋचाएँ आध्यात्मिकाः कहाती हैं। उदाहरण के रूप में—

अहं भुवं वसुनः पूर्व्युस्पतिरहम्। —ऋ० १०-४८-१

अर्थात्—जिसमें सब जीव बस रहे हैं, मैं उनका पहला स्वामी हूँ।

आगे कहा है—

अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगाः। अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना।

—नि० ७-२

आध्यात्मिक ऋचाओं में उत्तम पुरुष में क्रिया का प्रयोग होता है और 'अहं' इस सर्वनाम से (वर्णन होता है)।

ऋचाओं के इस विभाजन के विषय में निरुक्त (नि० ७-२) में कहा है—

परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठाः। अल्पश आध्यात्मिकाः।

अर्थात्—परोक्षकृता और प्रत्यक्षकृता ऋचाएँ बहुत हैं और आध्यात्मिकाः बहुत ही कम संख्या में हैं।

हमारा मत है कि आध्यात्मिका ऋचाएँ अध्यात्मपरक हैं। कहीं-कहीं परोक्षकृता और प्रत्यक्षकृता में भी अध्यात्म-पक्ष देखा जाता है। जिन ऋचाओं में देवता का परोक्ष और प्रत्यक्ष में वर्णन है, वे या तो आधिदैविक होती हैं अथवा आधिभौतिक। कभी-कभी इन ऋचाओं को आध्यात्मिक माना जा सकता है।

स्वामी दयानन्द भी 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में'[१] इस प्रकार कहते हैं—

---

१. सप्तम संस्करण (अजमेर), पृ० ४००

"वेदों के सब मन्त्र तीन प्रकार के अर्थों को कहते हैं। कोई परोक्ष अर्थात् अदृश्य अर्थों को, कोई प्रत्यक्ष अर्थात् दृश्य अर्थों को और कोई अध्यात्म अर्थात् ज्ञान-गोचर आत्मा और परमात्मा को। उनमें से परोक्ष अर्थ के कहनेवाले मन्त्रों में प्रथम पुरुष अर्थात् अपने और दूसरे के कहनेवाले जो 'सो' और 'वह' आदि शब्द हैं तथा उनकी क्रियाओं में 'अस्ति' 'भवति' 'करोति' 'पचति' इत्यादि प्रयोग हैं। एवं प्रत्यक्ष अर्थ के कहनेवालों में मध्यम पुरुष अर्थात् 'तू' 'तुम' आदि शब्द और उनकी क्रिया में 'असि' 'भवसि' 'करोसि' आदि प्रयोग हैं। अध्यात्म-अर्थ के कहनेवाले मन्त्रों में उत्तम पुरुष अर्थात् 'मैं' 'हम' आदि शब्द और उनकी क्रिया 'अस्मि' 'भवामि' आदि आती हैं।"

इससे भी वही अभिप्राय बनता है, जो हमने यास्क के उद्धरण से स्पष्ट किया है।

: ५ :

मन्त्र-द्रष्टा, छन्द तथा स्वर

मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों के विषय में यास्क कहता है—

·····**एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति।**

—या० नि० ७-३

अर्थात्—इस प्रकार से ऊँचे-नीचे अभिप्रायों को लेकर ऋषियों को मन्त्र के दर्शन अर्थात् मन्त्रार्थ का ज्ञान हुआ करता है।

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि ऋषियों का मंत्र-निर्माण में किसी प्रकार का सहयोग नहीं। मन्त्रद्रष्टा तो केवल मन्त्रार्थ के जाननेवाले होते हैं।

शौनक अपने ग्रन्थ 'बृहद्देवता' में लिखता है—

तद्धितांस्तदभिप्रायान् ऋषीणां मन्त्रदृष्टिषु।
विज्ञापयति विज्ञानं कर्माणि विविधानि च॥

—बृहद्देवता १-३

अर्थात्—जब ऋषि को मन्त्र का आविर्भाव हुआ, वह मन्त्रद्रष्टा ऋषि मन्त्र के अभिप्राय को कह सका। वह बता सका कि मन्त्र में विज्ञान की क्या बात कही गई है और उससे मनुष्य क्या कर्म करे।

यह अभिप्राय मन्त्र पर कहे देवता से प्रकट होता है। इससे स्पष्ट है कि मन्त्र-द्रष्टा का कार्य बस इतना ही है कि वह मन्त्र के भाव को बताकर उसका देवता तथा सूक्तादि का निश्चय करे।

प्रत्येक मन्त्र अथवा सूक्त के आरम्भ में देवता के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी लिखी रहती हैं। उदाहरण के रूप में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त के ऊपर इस प्रकार लिखा है—

मधुच्छन्दाः ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्री छन्दः। षड्ज स्वरः॥

इन सबका प्रयोजन भी समझना चाहिए। इस कथन का अर्थ है कि मन्त्र का द्रष्टा ऋषि मधुच्छन्दा है। इस सूक्त के सब मन्त्रों का देवता अर्थात् विषय अग्नि है। इस सूक्त में मन्त्रों का छन्द गायत्री है। इन मन्त्रों का उच्चारण

षड्ज स्वर में करना चाहिए।

मन्त्र-द्रष्टा ऋषि को तो केवल नमस्कार करने के लिए कहा जाता है। शौनक मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों के विषय में कहता है—

मन्त्रदृग्भ्यो नमस्कृत्वा समाम्नायानुपूर्वशः।—बृहद्देवता १-१

अर्थात्—वेदमन्त्रों के विषय में कहने से पहले मैं इन मन्त्र-द्रष्टाओं को नमस्कार करता हूँ।

ऋग्वेद १-१ का विषय अग्नि है। यही देवता के कथन का अभिप्राय है। देवता के कथन के उपरान्त कहा है कि इस सूक्त के सब मन्त्रों का छन्द गायत्री है। इसका अभिप्राय यह है कि मन्त्र में लिखते समय कोई वर्ण छूट गया हो अथवा कोई वर्ण अधिक लिखा गया हो तो छन्द के कथन से इस त्रुटि का पता चल जाये।

गायत्री छन्द चौबीस वर्णों का होता है।

यह हम बता चुके हैं कि वेदमन्त्र सात मुख्य छन्दों में कहे गये हैं। ये सात छन्द इस प्रकार हैं—(१) गायत्री, (२) उष्णिक्, (३) अनुष्टुप्, (४) बृहती, (५) विराट्, (६) त्रिष्टुभ्, (७) जगती।

इन छन्दों के प्रकारान्तर-भेद भी हैं।

छन्द-कथन के उपरान्त स्वर का कथन है। मुख्य स्वर सात माने गये हैं। इनके नाम हैं—षड्ज, ऋषभ, गन्धार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद।

इन स्वरों के प्रकारान्तर-भेद हैं। पहले सात के बारह भेद कहे हैं। दो ऋषभ हैं—कोमल और शुद्ध। दो गन्धार हैं, कोमल और शुद्ध। मध्यम भी दो हैं—शुद्ध और तीव्र। इसी प्रकार धैवत और निषाद दो-दो हैं—कोमल और शुद्ध। इन बारह के अतिरिक्त प्रत्येक की एक-एक श्रुति होती है। इस प्रकार कुल चौबीस स्वर हो जाते हैं। मन्त्रों तथा सूक्तों के ऊपर स्वर देने का अभिप्राय यह है कि जब कुछ लोग मिलकर वेदगान करने लगें तो सब एक ही स्वर में गायन करें।

मन्त्र-पदों के ऊपर-नीचे खड़ी अथवा लेटी हुई रेखाएँ होती हैं। ये उच्चारण के स्वर को ऊँचा-नीचा करने के लिए हैं। इनसे अर्थ करने में सहायता मिलती है।

खण्ड तीन

: १ :

वेद

यह खण्ड वेद के विषय में कुछ-एक भ्रान्तियों के निवारणार्थ लिखा जा रहा है। यह देश का दुर्भाग्य है कि संसार के ज्ञान के सर्वोत्तम भण्डार को साम्प्रदायिक, पक्षपातपूर्ण तथा राजनैतिक कारणों से भ्रष्ट करने का यत्न किया गया है और यह यत्न अब स्वयं भारतीयों द्वारा पुष्ट किया जा रहा है।

वेद का अध्ययन करनेवाले को इन भ्रान्तियों से सावधान रहना चाहिये। वेद अपौरुषेय हैं, अर्थात् ये किसी मनुष्य अथवा परमात्मा के भी बनाये अथवा कहे गये (रचे गये) नहीं माने जाते। ज्ञान परमात्मा का गुण है। गुण सदा गुणी के साथ रहता है। परमात्मा अनादि है, अतः उसका ज्ञान भी अनादि है। गुण न तो गुणी से पहले होता है और न ही उसके बाद में, अतः वेद भी अनादि हैं। जो भाषा हम बोलते हैं वह अनादि नहीं; वह मनुष्य के उत्पन्न होने के समय बनी। इसका अर्थ यह है कि यदि किसी ग्रह पर ऐसे प्राणी रहते हैं जिनका स्वर-यन्त्र किसी अन्य प्रकार का है तो वे किसी पृथक् प्रकार की भाषा बोलते होंगे और उनके वेद-ज्ञान को बोलने की बोली भी भिन्न होगी। अतः भाषा को वेद में राष्ट्री कहा है। यद्यपि इसके निर्माण में भी देवताओं द्वारा परमात्मा की सहायता से कार्य लिया गया है।

वेद के विषय में निम्न बातें सिद्ध हैं—

(१) प्रत्येक ज्ञान-ग्रन्थ की भाँति वेद को भी समझने के लिए कुछ प्रारम्भिक बातों का ज्ञान होना आवश्यक है। बिना प्रारम्भिक ज्ञान के उच्चकोटि का ज्ञान समझ सकना सम्भव नहीं। यह ऐसे ही है जैसे कि प्रथम अथवा द्वितीय श्रेणी के विद्यार्थी के लिए बी० ए० अथवा एम० ए० की पुस्तकें समझना सम्भव नहीं।

(२) यह हम बता चुके हैं कि वैदिक भाषा और लौकिक संस्कृत के शब्दों में अर्थ-भेद हो गया है। संस्कृत में शब्दों के रूढ़ि अर्थ माने जाते हैं, अर्थात् प्रत्येक शब्द का एक स्थिर अर्थ होता है। वैदिक भाषा में शब्दार्थ

यौगिक होते हैं। यौगिक अर्थों से अभिप्राय यह है कि किसी शब्द के सब-के-सब अर्थ, जो सदैव एक से अधिक होते हैं, धातु से निकलते हैं। धातु में भाव बताया जाता है और उस भाव को प्रकट करनेवाले कई अर्थ हो सकते हैं।

उदाहरण के रूप में अश्व शब्द लिया जा सकता है। सामान्य लौकिक भाषा में अश्व का अर्थ घोड़ा है। परन्तु वैदिक भाषा में—

अश्वनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः।—यास्क नि० २-२७

अर्थात्—अश्व नाम हैं छब्बीस (२६ अर्थ वाला)।

निघण्टु में अश्व के पर्याय इस प्रकार लिखे हैं : अत्यः,—हयः, अर्वा, वाजी, सप्तिः, वह्निः, दधिक्राः, दधिक्रावा, एतग्वः, एतशः, पैद्वः, दौर्गहः, औच्चैश्रवसः, तार्क्ष्यः, आशुः, ब्रध्नः, अरुषः, मांश्चत्वः, अव्यथयः, सुपर्णाः पतगः, नरः, ह्वार्याणाम्, हंसात्सः, तुरगः, अश्वा।

अतः वैदिक भाषा में अश्व के इतने अर्थ लिये जा सकते हैं।

ये सब अश्व के नाम क्यों पड़े हैं? इस विषय में आगे कहा है—

अश्वः कस्मात्। अश्नुते अध्वानम्। महाशनो भवतीति वा।

अश्व नाम क्यों पड़ा? क्योंकि यह मार्ग को व्याप लेता है। बहुत तेज़ी से दौड़ता है। यह बहुत खानेवाला है। अश्व की दो धातुओं, 'अशूङ्-व्याप्तौ' अथवा 'अश-भोजने' से व्युत्पत्ति है।

(३) मानव-सृष्टि के आरम्भ में राष्ट्री और वेदभाषा एक ही थी। तब ऋषियों तथा मनुष्यों के नाम इसी साँझी भाषा में से रखे जाते थे। यही कारण है कि कई मनुष्यों के नाम वैदिक भाषा में भी मिलते हैं। इसी से कभी वेदों में मानव-इतिहास का भास होने लगता है। कुछ काल तक प्रचलित भाषा और वैदिक भाषा एक ही रही। व्यवहार की भाषा प्रयोग के साथ क्षरित होती जाती है। यह सब व्यवहार की वस्तुओं के साथ होता है। इस कारण समय **व्यतीत होने के साथ व्यवहार की भाषा और वेद की भाषा में अन्तर पड़ने लगा।**

(४) यह भी माना जाता है कि मानव-सृष्टि पृथिवी पर एक ही स्थान पर हुई थी। परन्तु ज्यों-ज्यों मानव-सृष्टि विस्तार पाती गई, मनुष्य अपने जन्म-स्थान से दूर स्थानों पर प्रव्रजन करते गये। इसका यह भी प्रभाव हुआ कि भाषा न केवल बदली, प्रत्युत अनेक भाषाएँ बन गईं।

यह हम आगे चलकर बताएँगे कि अन्य देशों की भाषाओं की अपेक्षा

भारत की भाषाएँ क्यों वेद-भाषा के अधिक समीप रही हैं। भारतीय भाषाओं में भी लौकिक संस्कृत वैदिक भाषा के अति समीप है। फिर भी दोनों में अन्तर है। एक अन्तर तो हमने बता दिया है कि जहाँ लौकिक भाषा में शब्दार्थ प्रायः रूढ़ि हैं, वहाँ वैदिक भाषा में यौगिक हैं। भाव में समान, परन्तु रूप में अनेक—यही यौगिक का अभिप्राय है।

(५) किसी देश तथा काल के ज्ञान-विज्ञान का सत्य मूल्यांकन उस देश और काल के इतिहास से हो सकता है।

उदाहरण के रूप में सांख्यदर्शन के एक सूत्र में (१-२१, २२) अद्वैतवाद का समर्थन मिलता है। इससे यह पता चलता है कि ये सूत्र सांख्यदर्शन में बाद में मिलाये गये हैं, क्योंकि सांख्यदर्शन में अन्यत्र अद्वैतवाद का विरोध मिलता है।

इसी प्रकार यह मान्यता है कि वेद सृष्टि के आदि में कहे गये थे। इस कारण यदि किसी ऐतिहासिक पुरुष का नाम वेद में आए, तो वह उस ऐतिहासिक पुरुष का नाम नहीं हो सकता। अन्यथा वेद का सृष्टि के आदि में होना नहीं कहा जा सकता।

(६) मध्य-काल में भारत में विधर्मियों का राज्य स्थापित हो जाने से यहाँ के विद्वानों में वेदाध्ययन की प्रथा लोप हो गई थी और अविद्वानों ने वेद के मनमाने अर्थ लगाने आरम्भ कर दिए थे। यही कारण है कि वेद-ज्ञान को पुनर्जीवित करने के लिए सहायक बनाने पड़े। वे सहायक ग्रन्थ थे ब्राह्मण, आरण्यक, दर्शन, उपनिषद् ग्रन्थ इत्यादि। वेदार्थ समझने के लिए कुछ विवेच्य ग्रन्थ भी लिखे गये। इनमें उपवेद और पुराणादि ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। यज्ञादि के विधान भी इसी अर्थ रचे गए थे।

(७) यह बताया जा चुका है कि वेद-कथन सर्वथा तर्कयुक्त है। परन्तु तर्क करने का एक विधान है। बिना उस विधान को समझे तर्क ठीक नहीं बैठता। अतः जो तर्कशास्त्र से अनभिज्ञ हैं वे वेद समझ नहीं सकते। इसके लिए न्यायदर्शन का ज्ञान होना चाहिए। न्याय शब्द का अर्थ ही है प्रतिष्ठित तर्क। न्यायदर्शन में तर्क करने का ढंग बताया है।

(८) मध्यकालीन कुछ-एक विद्वान् यह मानने लगे थे कि सूर्य, चन्द्र इत्यादि देव ऐसे ही जीवधारी हैं जैसे मनुष्य हैं। वेद इन प्राकृत पदार्थों को दिव्य गुणयुक्त मानते हुए भी मनुष्य की भाँति सजीव (जीवात्माधारी) नहीं मानते।

(९) वेदों की पवित्रता को स्थिर रखने के लिए मध्यकालीन भारतीय विद्वानों ने वेद पढ़ने-पढ़ाने का अधिकार जन्म से द्विजों के लिए सीमित कर दिया। यह भूल थी। जब ज्ञान का द्वार वास्तविक विद्वानों के लिए बन्द किया जाता है तब ज्ञान विलुप्त हो जाता है। ब्राह्मणों ने वेदों का द्वार वेद-निन्दकों के लिए बन्द किया था, परन्तु जो उपाय प्रयोग किया गया, वह अशुद्ध था। इस कारण कि यह कोई गारण्टी नहीं कर सकता कि जन्म से द्विज अवश्य ही वेद समझने की योग्यता रखनेवाला होगा और अद्विज के घर में उत्पन्न बालक अवश्य ही वेदनिन्दक तथा इसके समझने के अयोग्य होगा। इस भूल का परिणाम यह हुआ कि वेद के पढ़ने-पढ़ाने तथा समझने और समझानेवाले कम होने लगे और धीरे-धीरे वेद-विद्या लोप होने लगी।

: २ :

स्वामी दयानन्द का प्रयास

महर्षि दयानन्द ने वेद-सम्बन्धी विचारों को एक नया मोड़ दिया है। नए से अभिप्राय यह है कि वह दृष्टि जो मध्यकालीन विद्वानों से सर्वथा नवीन है। परन्तु, जो प्राचीन विद्वानों की वेद-विषयक शैली है, वह स्वामीजी भी मानते थे।

स्वामी दयानन्द ने अपने 'ऋग्वेद भाष्यम्' ग्रन्थ के आरम्भ में निम्न कथन कर अपनी धारणा तथा दृष्टिकोण का उल्लेख किया है। भाष्य आरम्भ करने से पूर्व आप लिखते हैं—

····सर्वेषां मनुष्याणां वेदानां सत्यार्थदर्शनेन तेष्वत्यन्ता प्रीतिर्भविष्यतीति बोध्यम्। संहितामन्त्राणाम् यथाशास्त्रं यथाबुद्धि च सत्यार्थप्रकाशेन यत्सायणाचार्य्यादिभिः स्वेच्छानुचारतो लोकप्रवृत्त्यनुकूलतश्च लोके प्रतिष्ठार्थं भाष्यं लिखित्वा प्रसिद्धीकृतम्, अनेनात्रानर्थो महान् जातः। तद्द्वारा यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जात इति। यदामिस्मन्नीश्वरानुग्रहेणर्षि मुनि महर्षि महामुनिभिरार्य्यैर्वेदार्थगर्भितेष्वैतरेयब्राह्मणादिषूक्तप्रमाणान्विते मया कृते भाष्ये प्रसिद्धे जाते सति सर्वमनुष्याणां महान् सुख-लाभो भविष्यतीति विज्ञायते।

—वेदभाष्यस्य वैशिष्ट्यम्

अर्थात्—सब मनुष्यों को वेदों के सत्यार्थदर्शन से उन (वेदो) में अत्यन्त प्रीति होगी, ऐसा समझना चाहिए। वेदमन्त्रों का जैसा शास्त्र अथवा बुद्धि से जो सत्यार्थप्रकाश के लिए सायणादि भाष्यकारों ने स्वेच्छानुसार, लोक-प्रवृत्ति के अनुकूल और लोक-प्रतिष्ठा के लिए भाष्य करके प्रसिद्ध किये हैं, वे महान् अनर्थ करनेवाले हुए हैं। इन द्वारा यूरोप खण्ड के रहनेवालों को भी भ्रम उत्पन्न हुआ है। जो इसमें ईश्वर-अनुग्रह से ऋषि, मुनि, महर्षि, महामुनियों द्वारा श्रेष्ठ वेद-अर्थों से युक्त ऐतरेय ब्राह्मणादि प्रमाणों से युक्त मेरे किये भाष्य में प्रसिद्ध हो जाने से सब मनुष्यों को महान् सुख-लाभ होगा, ऐसा

प्रतीत होता है।

स्वामी दयानन्द की इस प्रतिज्ञा में निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) यह भाष्य मनुष्यमात्र के लिए किया जा रहा है।

(२) सायणादि भाष्यकारों ने स्वेच्छा, लोक-प्रसिद्धि और लोगों को प्रसन्न करने के लिए जो भाष्य किये हैं, वे घोर अनर्थ करनेवाले सिद्ध हुए हैं। इस कारण यहाँ पर इसके युक्त अर्थ किये जा रहे हैं।

(३) उन्हीं के भाष्यों ने यूरोप-भूखण्ड-निवासियों में भ्रम उत्पन्न कर दिया है।

(४) यह भाष्य ईश्वर-अनुग्रह से ऋषि, मुनि, महर्षि तथा महामुनियों के सार-गर्भित अर्थों से युक्त किया जा रहा है।

इन चारों धारणाओं को महर्षि कितना निभा सके हैं यह यहाँ विचारणीय नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की सामर्थ्य सीमित होती है, किन्तु स्वामी जी की प्रतिज्ञा में कोई दोष नहीं।

यह निर्विवाद है कि स्वामी दयानन्द ने अपनी ओर से की गई वेद-विषयक प्रतिज्ञा-पूर्ति का अत्यन्त प्रयत्न किया था।

तत्कालीन यूरोप के उदार विचार के विद्वान् रोमां रोलां परमहंस स्वामी रामकृष्ण की जीवनी में लिखते हैं।

"It was in truth an epoch-making date for India when a Brahmin not only acknowledged that all human beings have the right to know the Vedas, whose study had been previously prohibited by orthodox Brahmins, but insisted that their study and propaganda was the duty of every Arya.

(Romain Rolland : Life of Ramakrishna, p. 140 [Nov. 1974]

अर्थात्—वस्तुतः भारत में एक युगारम्भ **का दिन था, जब एक ब्राह्मण** (स्वामी दयानन्द) ने केवल यह स्वीकार ही **नहीं किया कि सब** मनुष्यों को **वेदों के अध्ययन** का, जिसे **कट्टरपंथी** ब्राह्मणों ने वर्जित कर रखा था, **अधिकार है, प्रत्युत उसने इस बात पर भी बल दिया कि वेद सब** सत्य **विद्याओं का पुस्तक है और इनका पढ़ना-पढ़ाना तथा सुनना-**सुनाना **सब आर्यों का** परम धर्म है।[१]

अढ़ाई सहस्र **वर्ष** से अधिक काल **के उपरान्त स्वामी दयानन्द** अकेला **भारतीय** विद्वान् हुआ है, जो मनुष्यमात्र को वेद को पढ़ने और

१. 'वेदों का यथार्थ स्वरूप'—धर्मदेव विद्या मार्तण्ड, पृ० ३९ से उदधृत।

अध्ययन करने का अधिकार देता है।

स्वामी दयानन्द जी ने यह घोषणा स्वामी शंकराचार्य जैसे ख्यातिप्राप्त विद्वानों के खण्डन में की थी। स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं—

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः। यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधो भवति। वेदश्रवण-प्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते। श्रवणप्रतिषेधस्तावत् 'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोतप्रतिपूर्णम्' इति। 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' इति च। अत एवाध्ययनप्रतिषेधः। यस्य हि समीपेऽपि नाध्येतव्यम् भवति। स कथमश्रुतमधीयीत? भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति। अतएव चार्थादर्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति—'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इति, 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्' इति च। येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद्विदुरधर्मव्याधप्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिस्तेषां' न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धुं; ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वात्। 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारस्मरणात्। वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम्।

—ब्र० सू० शांकर भा० १-३-३८

इसका अर्थ इस प्रकार है—

इससे भी शूद्र का (वेदों मे) अधिकार नहीं, क्योंकि स्मृति में उसके लिए श्रवण, अध्ययन और अर्थज्ञान का प्रतिषेध है। स्मृति में शूद्र के लिए वेद के श्रवण, वेद के अध्ययन और वेदार्थ-ज्ञान एवं अनुष्ठान का निषेध है। समीप से वेदों का श्रवण करनेवाले शूद्र के दोनों कान राँगा और लाख से भर दे। शूद्र चलता-फिरता श्मशान है। इस कारण उसके समीप अध्ययन नहीं करना चाहिए। वह बिना सुने कैसे अध्ययन कर सकता है? वेद के उच्चारण करने पर जिह्वाच्छेद (जिह्वा काट देने का) और शरीरोच्छेद (शरीर के टुकड़े-टुकड़े करने) का विधान है। वेद-ज्ञान का अभाव होने से शूद्र के लिए अर्थज्ञान, अनुष्ठान का निषेध अर्थ से सिद्ध होता है। ब्राह्मण को चाहिए कि शूद्र को मति-ज्ञान न दे। द्विजातियों के लिए अध्ययन, यज्ञ और दान का विधान है। पूर्वजन्म के संस्कारों से युक्त विदुर, धर्म व्याध आदि के लिए प्रतिषेध नहीं, क्योंकि ज्ञान अव्यभिचारित फल वाला होता है। चारों वर्णों को सुनाए, यह इतिहास-पुराण के लिए है। परन्तु वेद का शूद्र को अधिकार नहीं।

यहाँ शंकराचार्य के इस कथन को उद्धृत करने का तात्पर्य यह है कि महर्षि दयानन्द ने ऐसा क्या चमत्कारिक कथन किया था जिसने एक बार तो भारत के पण्डित-समाज के पाँव-तले से भूमि निकाल दी थी ? स्वामी जी वेद को मानव-समाज के लिए कहते थे और उन्होंने इसके लिए वेदाश्रय ही लिया था।

स्वामी जी ने अपने कथन के समर्थन में वेदमन्त्र भी उद्धृत किया था—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मंराजन्याभ्याथ्र्ंशूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय। यजुः० २६-२

अर्थात्—मैं अपनी यह वाणी जनमात्र के कल्याण के लिए देता हूँ वैसे ही तुम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और चौथे वर्ण शूद्र के लिए और अपने भृत्यों के लिए तथा अन्त्यजों के लिए भी दो।

इसी मन्त्र में आगे कहा है—

प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु॥

जैसे मैं विद्या दान करनेवाले व्यक्ति तथा विद्वानों के दान प्राप्त करने पर प्रसन्न होता हूँ, वैसे तुम मनुष्यमात्र भी होवो।

इसका अभिप्राय यह कि वेद सुनाकर आप सब भी प्रसन्न होवें।

यह स्वामी जी की ऐसी घोषणा थी, जिसने न केवल शंकर-प्रभृति आचार्यों के पाण्डित्य की जड़ें हिला दीं, वरन् इस काल के विद्वानों को भी निरुत्तर कर दिया।

स्वामी जी की दूसरी घोषणा यह थी कि सायणादि ने मनमाने तथा लोगों में ख्याति प्राप्त करने के लिए भाष्य किये हैं।

इसका प्रमाण तो पग-पग पर मिलता है। मन्त्रों के भाव में अन्तर हो सकता है, परन्तु मन्त्रार्थ देवता के साथ सम्बद्ध रहने चाहिएँ। सायणादि के अयुक्त अर्थ करने से यूरोपीय विद्वानों को भी भ्रान्ति हुई है और इससे महान् अनर्थ हुआ है।

महर्षि दयानन्द के भाष्य की शैली से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) वेद के शब्दों और पदों के अर्थ यौगिक हैं। रूढ़ि अर्थ अशुद्ध हैं।

(२) वेदार्थ करने में निरुक्त सर्वाधिक सहायक होता है।

(३) लौकिक संस्कृत और वैदिक संस्कृत में अन्तर है। इसमें व्याकरण

की अष्टाध्यायी और पतञ्जलि का महाभाष्य सहायक होते हैं।

(४) वेदार्थ समझने में देवता जो मन्त्र, मन्त्रांश तथा सूक्त के ऊपर दिए रहते हैं, सहायक होते हैं। देवता को ही प्रकरण कहते हैं।

(५) वेद-वाक्य परस्पर-विरोधी नहीं हैं।

(६) वेदार्थ तर्कसंगत हैं।

(७) वेद में मानव-इतिहास नहीं। सृष्टि-रचना का इतिहास तो है, परन्तु इसमें मानवों का इतिहास नहीं। वेद में सृष्टि-रचना का इतिहास इस कारण है क्योंकि सृष्टि-रचना तो क्रमानुसार होती है। जब-जब भी और जहाँ-जहाँ भी सृष्टि-रचना होती है, वह समान रूप में ही होती है। इसलिए उसमें नवीनता कुछ भी नहीं होती; परन्तु मानव कर्म करने में स्वतन्त्र है और इसके कर्मों के विषय में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। अतः सृष्टि के आदि में प्रकट हुए वेद में मानव-इतिहास नहीं हो सकता।

(८) वेद-पाठ में स्वामी जी ने प्रायः देवता का अर्थ विद्वान् पुरुष किया है। मनुष्य स्वयं देवता है, इस कारण इसमें बाधा शब्दार्थ की नहीं, वरन् भाव की है।

वैसे स्वामी जी ने देवता से दिव्य गुणयुक्त पदार्थों का भी अर्थ लिया है।

स्वामी जी से अनेक विषयों में मतभेद रखते हुए भी अनेक अन्य विद्वानों ने स्वामी जी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उदाहरण के रूप में योगिराज अरविन्द ने महर्षि दयानन्द जी के भाष्य के विषय में लिखा है—

There is nothing fantastic in Dayananda's idea that Veda contains truth of science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that Veda contains the other truths of a science the modern world does not at all possess and in that case Dayananda has rather understated than overstated the depth and range of the Vedic wisdom....If as Dayananda held on strong grounds, the Veda reveals to us God, reveals to us the relation of the soul to God and nature, what is it but a revelation of Divine Truth. And if, as Dayananda held, it reveals them to us with a perfect truth, flawlessly he might well hold it for an infallable Scripture....in the matter of Vedic interpretation Dayananda will be honoured, as the first discoverer of the right clues. Amidst the chaos and obscurity of old ignorance and age-long misunderstanding, his was the eye of direct vision that pierced to the truth and fastened on to that which was essential. He has found the keys of the doors that time has closed and rent as under the seals of the

imprisoned fountains.[1]

'दयानन्द की इस मान्यता में कि वेदों में विज्ञान की सचाइयाँ हैं और वैदिक धर्म की भी हैं, कुछ भी अनहोनी बात नहीं है। मैं इसमें यह और कहूँगा कि वेदों में दूसरी सचाइयाँ भी हैं जिन्हें वर्तमान युग का वैज्ञानिक नहीं जान पाया और इस विषय में दयानन्द ने कुछ अधिक के स्थान कम ही कहा है कि वैदिक ज्ञान की सीमा कहाँ तक है।—यदि जो कुछ दयानन्द ने कहा है, उसका प्रबल प्रमाण उपस्थित है, जिससे यह प्रकट होता है कि वेद परमात्मा के अस्तित्व को प्रकट करता है, यह परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति के विषय के रहस्योद्‌घाटन भी करता है, यह एक इल्हाम (ईश्वरीय ज्ञान) का प्रकाश ही है। यह जो स्वामी दयानन्द प्रकट करता है और घोषित करता है, पूर्ण सचाई है और यह दोषरहित निर्भ्रान्त ईश्वरीय कथन है—स्वामी जी के वेदों का भावार्थ, मैं इस प्रकार मान गया हूँ कि अन्तिम विवेचना कुछ भी हो, दयानन्द का इस कारण मान किया जाएगा कि वह पहला व्यक्ति है जिसने वेदार्थ का सही सूत्र पता किया है। अव्यवस्था और पुराने अज्ञान के कारण अस्पष्टता और शताब्दियों की भूल के उपरान्त, उसकी ही दृष्टि थी जो सचाई तक पहुँच सकी, जिस पर पहुँचना अनिवार्य था। काल से बन्द हुए द्वार की कुंजी मिल गई है और उसने उन द्वारों को खोल दिया है और ज्ञान के स्रोत को बाहर ले आया है।'

अरविन्द जी के वक्तव्य को यहाँ इस कारण दिया गया है क्योंकि योगिराज से बहुत ही कम योग्यता के हिन्दुस्तानी अपने यूरोपियन आकाओं के टुकड़े खाते हुए वेदों की निन्दा में बहुत-कुछ कह गए हैं।

उदाहरण के रूप में भारत में 'भारतीय विद्या भवन' नाम का एक संस्थान है। इस संस्थान ने 'वैदिक एज' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की है। इस पुस्तक के मुख्य सम्पादक श्री रमेशचन्द्र मजूमदार हैं। इस पुस्तक में वेदों की प्राचीनता के विषय में लिखा है—

On linguistic grounds the language of the Rig Veda, oldest Veda, may be said to be about 1000 B. C. (Vedic Age, p. 225)

अर्थात्—"शुद्ध भाषा की दृष्टि से देखा जाय तो ऋग्वेद, जो प्राचीनतम वेद है, १००० वर्ष ईसा-पूर्व का कहा जा सकता है।

श्री मजूमदार इतिहास के अध्यापक रहे हैं। इनको इतना विदित होना

---

1. Aurobindo in 'Dayananda And Veda' published in Vedic Magazine, Lahore, Nov. 1916 Qtd. by पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, in 'वेदों का यथार्थ स्वरूप, पृ० 41

चाहिए कि बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया थी और ब्राह्मण धर्म वैदिक धर्म का विकृत रूप मात्र था। इस गणना से वेदों का आविर्भाव इससे कई सहस्र वर्ष पूर्व हुआ मानना पड़ेगा।

वास्तव में श्री मजूमदार मैक्समूलर इत्यादि अनभिज्ञ यूरोपियनों द्वारा कही बात ही दुहरा रहे हैं।

'वैदिक एज' का कथन बच्चों की कल्पनामात्र है। भारतीय इतिहास यह है कि महाभारत का काल ईसा से तीन सहस्र वर्ष पूर्व है। उस समय देश में वेद का प्रचार था। महाभारत के मुख्य पात्र युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था। महाभारत से बहुत पहले वेद व्यास ने ब्रह्मसूत्र लिखे थे और उपनिषद्-ग्रन्थ उससे पहले कहे गए थे। यह स्पष्ट है कि उपनिषद्-ग्रन्थों से पहले ब्राह्मण-ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। यह माना जाता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थ यज्ञों की प्रथा के उपरान्त लिखे गए। इस विषय पर अर्थात् काल-गणना के विषय में एक संक्षिप्त विवरण आगे चलकर देंगे। यहाँ इतना बताने से ही अभिप्राय है कि 'वैदिक एज' के लेखक को यह चाहिए था कि वह भारतीय इतिहास में काल के विचार का खण्डन करता, तब ही वेदों के काल को वह ईसा के आस-पास का काल लिख सकता था।

: ३ :

वेदों की प्राचीनता : भारतीय मत

पूर्व इसके कि वेद के काल के विषय में लिखें, हम मनुष्य के भूतल पर उद्भव के विषय में अति संक्षेप से पाश्चात्य मत लिख देना चाहते हैं। भारतीय मतानुरूप मनुष्य के उत्पन्न होने का वेद के आविर्भाव से घना सम्बन्ध है। इस कारण यह बताना ठीक ही होगा कि पाश्चात्य विद्वान् मनुष्य को पृथिवी पर कितना पुराना मानते हैं।

भू-विज्ञान-वेत्ता भूतकाल में एक सिनोज़ोइक युग मानते हैं। कहते हैं वह युग आज से ७०,००० वर्ष पहले आरम्भ हुआ था और अभी चल रहा है। इस युग के वर्तमान विभाग को क्वार्टनरी काल कहते हैं। वह आज से २१,००० वर्ष पहले से आरम्भ हुआ माना जाता है। यह विभाग आज तक चल रहा है। यह माना जाता है कि इस युग के इस विभाग में मनुष्य की उत्पत्ति हुई है।

इसका अनुमान किस प्रकार लगाया गया है, इसके लिए पढ़िये 'ऐन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' खण्ड १०, पृष्ठ १७३; संस्करण १९६७।

इस क्वार्टनरी काल में ही हिम-युग आया था। इसमें, कहा जाता है कि पूर्ण उत्तरी यूरोप हिम से दब गया था। यह हिम-युग पूर्ण उत्तरी गोलार्द्ध पर आया था। एशिया और कनाडा तथा उत्तरी संयुक्त राज्य अमेरिका पर इसका प्रभाव हुआ था।[१]

इस हिम-युग का कारण यह प्रतीत होता है कि पृथिवी की एक गति है जो छब्बीस हज़ार वर्ष में पूर्ण होती है। इसमें पृथिवी का उत्तरी ध्रुव ऐसे डोलता है जैसे वेग से घूम रहा लट्टू डोलता है। इस डोलने में उत्तरी ध्रुव २६,००० वर्षों में एक बार सूर्य की ओर झुक जाता है, और फिर एक बार सूर्य से दूर हो जाता है। जब दूर हो जाता है तब इस गोलार्द्ध पर बर्फ जम

१. इस कथन का खंडन लेखक ने अपनी रचना 'विज्ञान और विज्ञान' में किया है।

जाती है। इस गति से भी यह प्रतीत होता है कि आज से लगभग २१,००० वर्ष पूर्व उत्तरी ध्रुव सूर्य से दूरतम था।

ऐसा प्रतीत होता है कि एशिया में हिमपात हिमालय तक अथवा कश्मीर इत्यादि तक हुआ होगा। यूरोप में भी हिमपात के लक्षण भू-मध्य सागर से नीचे दिखाई नहीं देते।

मनुष्य के कंकाल जिनसे प्राचीन मनुष्य की उपस्थिति का अनुमान लगाया जाता है, इस हिमपात में दबे हुओं के ही हो सकते हैं। क्योंकि हिम-युग एकदम नहीं होता; यह एक-दो वर्ष में नहीं आया होगा; सम्भवतः वर्ष-वर्ष में बढ़ता हुआ शीत कुछ हज़ार वर्षों में यौवन पर आया होगा। इस कारण सब मनुष्य बढ़ते हुए शीत को देख दक्षिण की ओर प्रव्रजन कर गए होंगे और उनके कंकाल बर्फ में नहीं मिले। ये कंकाल किसी ऐसे जन्तु के होंगे जो मनुष्य से मिलता-जुलता होगा, परन्तु उससे बहुत कम बुद्धिमान् रहा होगा। तभी वह प्रव्रजन न कर बर्फ में दब गया होगा।

निष्कर्ष यह है कि किसी मनुष्य का कंकाल नहीं मिला। जो भी मिले हैं वे किसी मनुष्येतर जन्तु के हैं।

महाभारत के प्रमाण से यह पता चलता है कि महाभारत-काल में उत्तरी ध्रुव पर लोग रहते थे और वहाँ बारह महीने कनेर फूलती थी। अभिप्राय यह कि उत्तरी गोलार्द्ध पर अब हिम-युग आ रहा है। हम हिम-युग की ओर पाँच अथवा छः हज़ार वर्ष खिसक चुके हैं।

इससे यह कहा जा सकता है कि यूरोपवालों के, भूगर्भ की तहें देख कर लगाये अनुमान विश्वास-योग्य नहीं हैं।

भारतीय विद्वान् काल-गणना युग-गणना से करते हैं। युग-गणना पृथिवी की गतियों को देखकर ही निश्चय की गई है। इसमें वेद का यह प्रमाण है कि मनुष्यों की उत्पत्ति उत्तरी ध्रुव के दक्षिण की ओर किसी सुरक्षित स्थान पर हुई थी। इस विषय में मन्त्र इस प्रकार है—

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः॥ ८॥
युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः।
अमीमेद वत्सो अनु गामपश्यद् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु॥ ९॥

ऋ०-१-१६४-८,९

मन्त्रों का पदार्थ इस प्रकार है—

माता = जन्म देनेवाली। पितरम् = पिता को। ऋते = अनादि नियमानुसार। आ बभाज = चारों ओर से प्राप्त करती है। धीति = धारण करती है। अग्रे = आदि काल में। मनसा = चित्त शक्ति से। हि = निश्चय से। सं जग्मे = संयोग करती है।

सा = वह। बीभत्सु = संयोग की इच्छा से। गर्भरसा = गर्भ में धारण योग्य। निविद्धा = बँधी हुई। नमस्वन्तः = प्रशंसा के योग्य। इत् = इस। उपवाकम् = उपवाणी अर्थात् उच्चारण मात्र। ईयुः = प्राप्त हुए।

युक्ता = जुड़ी हुई अर्थात् सम्बद्ध हुई। माता = पृथिवी। आसीत् = थी। धुरि = ध्रुव में। दक्षिणायाः = दक्षिण में। अतिष्ठत् = स्थित था। गर्भः = गर्भ। वृजनीषु = वर्जनीय स्थान में अथवा सुरक्षित स्थान में। अन्तः = भीतर।

अमीमेत् = प्रक्षेप होता है। वत्सः = पुत्र। अनुगाम = पीछे जाता हुआ। अपश्यत् = देखता है। विश्वरूपम् = समस्त रूपों को। त्रिषु = तीन में। योजनेषु = बन्धनों में।

यहाँ माता से अभिप्राय पृथिवी है और पिता से सूर्य है। कहा है कि पृथिवी सूर्य को अनादि नियमानुसार चारों ओर से प्राप्त करती है और गर्भ से निबद्ध हो जाती है। गर्भ में धारण करने योग्य मनुष्य उत्पन्न हुए और बोलने लगे।

मन्त्र में सृष्टि के आदि-काल का वर्णन है। इससे पूर्व (ऋ० १-१६४-७) मन्त्र में प्रश्न पूछा गया है—**"इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।"** अर्थात् हे प्रिय, वह सुन्दर काया वाला पहले कहाँ हुआ ?

मनुष्य का सुन्दर शरीर पहले कहाँ बना ? इसके उत्तर में ही ये मन्त्र (ऋ० १-१६४-८) हैं।

आगे कहा है—धुरि अर्थात् ध्रुव के दक्षिण में पृथिवी ने एक सुरक्षित स्थान पर गर्भ धारण किया और सुती अर्थात् जीवात्माओं की वर्षा हुई और सृष्टि हो गई। तब समस्त रूपों में सृष्टि हुई और प्राणी तीन बन्धनों में बँधा हुआ आया। ये तीन रूप थे जीवात्मा के पूर्व-कल्प के कर्म-फल, शरीर और प्राण। इसी सम्बन्ध में तीसरा मन्त्र है—

तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवोः अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्॥

—ऋ० १-१६४-१०

अर्थात्—

तिस्रः = तीन। मातृः = मांताओं। त्रीन् = तीन। पितृन् = पिताओं की। ब्रिभ्रत = धारण करता हुआ। एकः = एक। ऊर्ध्वः = ऊपर। तस्थौ = स्थित हुआ। न-ईम् = अब नहीं। अवग्लापयन्ति = विचलित होते हैं अर्थात् पृथक् होते हैं।

मन्त्रयन्ते दिवः—सूर्य के (उच्चारित) मन्त्र समझनेवाले। अमुष्य पृष्ठे = दूर (पृथिवी की) पीठ पर स्थित। विश्वविदम् वाचम् = सबको विदित होनेवाली वाणी। अविश्वमिन्वाम् = जो सबको ज्ञात नहीं होती।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि प्राणी की तीन माताएँ और तीन पिता हैं। इसका अर्थ है कि प्राणी में तीन अंश माता से आते हैं और तीन अंश पिता से। माता की ओर से आनेवाले अंश हैं पृथिवी, जल और वायु—(पाँच भौतिक; और सूर्य की ओर से आनेवाले अंश है—अग्नि, आकाश (पाँच भौतिक) और प्राण।

इन मन्त्रों का भावार्थ यह है कि मनुष्य की प्रथम सृष्टि उत्तरी ध्रुव के समीप, उसके दक्षिण में किसी सुरक्षित स्थान पर हुई।

यह हम ऊपर बता चुके हैं कि पृथिवी की तीसरी गति से उत्तरी ध्रुव पर (२६,००० वर्ष में एक बार) मानव-निवास-योग्य ऊष्मा हुई तो वहाँ तदनन्तर मानव-सृष्टि हो गई।

मानव-सृष्टि कब हुई? महाभारत के प्रमाण से ऐसा समझ में आता है कि वर्तमान मन्वन्तर में हुई। ब्रह्मा परमात्मा को सम्बोधन कर कहता है—

इदं च सप्तमं जन्म पद्म जन्मेति वै प्रभो।
सर्गे सर्गे ह्यहं पुत्रस्तव त्रिगुणवर्जितः॥

—महाभा० १२-३४७-४३

और, पद्म पर जन्म के विषय में महाभारत इस प्रकार कहता है—

ततस्तेजोमयं दिव्यं पद्मं सृष्टं स्वयम्भुवा।
तस्मात् पद्मात् समभवद् ब्रह्मा वेदमयो निधिः॥
मानसस्येह या मूर्तिर्ब्रह्मत्वं समुपागता।
तस्यासनविधानार्थं पृथिवी पद्ममुच्यते॥
कर्णिका तस्य पद्मस्य मेरुर्गगनमुच्छ्रितः।
तस्य मध्ये स्थितो लोकान् सृजते जगतः प्रभुः॥

—महा० १२-१८२-१५,३७,३८

महाभारत के इन श्लोकों का अर्थ इस प्रकार है—

उसके बाद स्वयम्भू (परमात्मा) ने एक तेजोमय दिव्य कमल उत्पन्न किया। उसी कमल से वेद-निधिरूप ब्रह्मा प्रकट हुए ॥ १५ ॥

मानव-देव का जो स्वरूप बताया गया है, वही ब्रह्म-रूप प्रकट हुआ था। उन्हीं ब्रह्मा जी के आसन के लिए इस पृथिवी को ही पद्म कहते हैं ॥ ३७ ॥

इस कमल की कर्णिका मेरु पर्वत (उत्तरी ध्रुव) है, जो आकाश में बहुत ऊँचे तक गया है। उसी पर्वत के मध्यभाग में स्थित होकर जगत्-प्रभु सब लोकों की सृष्टि करता है ॥ ३८ ॥

महाभारत से वेद के कथन का समर्थन होता है कि मानव-सृष्टि उत्तरी ध्रुव के दक्षिण में हुई और किसी सुरक्षित स्थान पर हुई। इसका अभिप्राय है कि वह स्थान जल की पहुँच से ऊपर था।

ध्रुव प्रदेश का जलवायु मानव के अनुकूल रहा होगा, तभी तो वहाँ कोई सुरक्षित स्थान मिल सका होगा।

हमने कहा है कि यह सातवें मन्वन्तर में हुआ। इस कारण मन्वन्तर का अर्थ भी समझ लिया जाए तो ठीक होगा।

सृष्टि-रचना-काल

अथर्ववेद में दशम काण्ड का सातवाँ सूक्त 'स्कम्भ सूक्त' कहाता है। स्कम्भ का अर्थ इसी सूक्त में बताया गया है। यूँ तो कोष में स्कम्भ को स्तम्भ का पर्यायवाचक माना है, परन्तु इस शब्द का निर्वचन वेद स्वयं इस प्रकार करता है—

यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम्।
ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥
यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि
कतमः स्विदेव सः॥ —अथर्ववेद १०-७-११,१२

इन वेदमन्त्रों का अर्थ है—

यत्र = जहाँ। तपः = तप। पराक्रम्य व्रतं धारयति उत्तरम् = और पराक्रम करके उत्तर व्रत धारण करता है (इसका अभिप्राय है कि जहाँ परमात्मा ने परिश्रम अर्थात् तप किया)। च आपः = और अहंकार। समाहिताः = सब एकत्रित है। ब्रह्म = वेदों का आविर्भाव हुआ है। यत्र ऋतं च श्रद्धा = और

जहाँ अनादि नियम और उन पर आचरण हुआ। तं स्कम्भं ब्रूहि = उसको स्कम्भ कहो। कतमः स्वित् एव सः = वह (दिव्य गुणयुक्त) कौन है? ॥ ११ ॥

यस्मिन् = जिसमें। भूमिः अन्तरिक्षं द्यौः अधिआहिता = भूमि (पार्थिव पदार्थ) अन्तरिक्ष और प्रकाशमान पदार्थ। यत्र अग्निः चन्द्रमा सूर्यः = वातः = जहाँ अग्नि, चन्द्र, सूर्य और संगठित करनेवाली शक्ति। तिष्ठन्ति = प्रतिष्ठित हैं। तम् आर्पिताः स्कम्भं ब्रूहि = उसको स्थापित करते हुए को स्कम्भ कहो। कतमः स्वित् एव सः = निश्चय करो वह कौन-सा है ॥ १२ ॥

इन मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि स्कम्भ का अभिप्राय कल्प है। इसे ब्राह्म दिन भी कहते हैं। इस स्कम्भ में यह भी कहा है—

कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद् भविष्यदन्वाशयेऽस्य।
एकं यदङ्गमकृणोत् सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र॥

—अथर्व० १०-७-९

अर्थात्—कियता भूतम् = कहाँ तक भूतकाल में। स्कम्भः प्र विवेश = ब्राह्म दिन (कल्प) फैला हुआ था। अस्य भविष्यत् कियत् अन्वाशये = इसका भविष्य कहाँ तक फैला हुआ है।

एकं यत् अङ्गम् अकृणोत् = जो एक अंग करके (विचार करें)। प्र विवेश तत्र स्कम्भः सहस्रधा = वहाँ स्कम्भ (ब्राह्म दिन) सहस्र प्रकार (भागों) में है।

अभिप्राय यह है कि स्कम्भ (पहले दो मन्त्रों में स्कम्भ के लक्षण किये जा चुके हैं) अर्थात् ब्राह्म दिन कब आरम्भ हुआ था और कब तक चलेगा। यदि भूत-भविष्य के काल को एक करके विचार किया जाए तो इसमें एक सहस्र भाग हो सकते हैं।

एक ब्राह्म दिन में एक सहस्र चतुर्युगियाँ मानी गई हैं। यह वेद में ज्योतिष शास्त्र का बीज है। ज्योतिष शास्त्र के विख्यात ग्रन्थ सूर्य-सिद्धान्त में कल्प की गणना इस प्रकार की गई है—

यह कहा है कि सृष्टि-रचना और प्रलय एक-दूसरे के उपरान्त निरन्तर चलते रहते हैं। जितने काल रचना रहती है, उतने काल तक ही लय-अवस्था रहती है। रचना-काल को ब्रह्म-दिन कहते हैं और लय-काल को ब्रह्म-रात्रि कहते हैं।

ब्रह्म-दिन-रात का एक चक्र ८,६४,००,००,००० वर्ष का होता है।

इसमें ४,३२,००,००,००० वर्ष ब्रह्म-दिन के और इतने ही वर्ष ब्रह्म-रात्रि के होते हैं। वेद में कहे अनुसार ब्रह्म-दिन अर्थात् ४,३२,००,००,००० वर्ष को एक सहस्र भाग में बाँटा जाय तो एक भाग में ४३,२०,००० वर्ष होंगे। इसे चतुर्युगी अथवा देव-वर्ष कहते हैं।

एक चतुर्युगी में चार युग होते हैं—सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग। इनके काल की गणना ४ : ३ : २ : १ के अनुपात में होती है। इस प्रकार

सतयुग	=	१७,२८,००० वर्ष
त्रेता युग	=	१२,९६,००० „
द्वापर युग	=	८,६४,००० „
कलि युग	=	४,३२,००० „
एक चतुर्युगी	=	४३,२०,०००

ब्रह्म-दिन बराबर होगा = ४,३२,००,००,००० वर्ष = १४ मन्वन्तर।

अतः एक मन्वन्तर =४,३२,००,००,०००/१४ =७३.४२८ चतुर्युगियाँ = ३०,८५,७१,४२८ वर्ष

यह माना जाता है कि सृष्टि आरम्भ हुए ६ मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं और सातवें मन्वन्तर की २७ चतुर्युगियाँ व्यतीत हो चुकी हैं। साथ ही २८वीं चतुर्युगी का सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग के ५,०८९ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।[१]

यह सब गणना नक्षत्रों की गतियाँ देखकर पता की गई है। अब प्रश्न यह रह जाता है कि जगत् में क्या-क्या और कब-कब बना?

हम बता चुके हैं कि महाभारत में मन्वन्तरों के नाम दिए गए हैं। उनके नाम उस मन्वन्तर-विशेष में रचना-विशेष का संकेत करते हैं। उदाहरण के रूप में यह कहा है कि प्रथम मन्वन्तर स्वयम्भू अथवा स्वरोचिष है। इसका अभिप्राय है कि इस मन्वन्तर में स्वयम्भू (परमात्मा) ने रचना-कार्य किया। महाभारत में लिखा है कि इस मन्वन्तर के आरम्भ में रचना परमात्मा के मन से ही हुई थी। यह वेद में भी कहा है। वहाँ इस प्रकार इसका वर्णन है—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

ऋ० १०-१२९-४

---

१. पुस्तक के सम्पादन-काल तक की गणना

अर्थात्—सबसे पहले (परमात्मा के) मन से उत्पन्न होनेवाली कामना उत्पन्न हुई। वह सर्वत्र विद्यमान थी।

इसी प्रकार महाभारत में दूसरे मन्वन्तर के विषय में कहा है कि यह मन्वन्तर परमात्मा के नेत्र से उत्पन्न हुआ। मनुस्मृति में इसका नाम 'उत्तम' दिया है। इसका अभिप्राय यह है कि इस काल में हिरण्यगर्भ प्रकाशमान हो गया था। परमाणुओं से महत् और महत् से अहंकार बन चुके थे और अग्नि तथा वायु उत्पन्न हो हिरण्यगर्भ को प्रकाशित कर रहे थे।

इसी प्रकार मनुओं (मन्वन्तरों) के नाम से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि उस काल में रचना किस स्तर पर पहुँच चुकी थी।

इन्हीं मन्वन्तरों के नाम से हम यह भी अनुमान लगा सकते हैं कि वेद-छन्द (तरंगों के रूप में) कब उच्चारित होने लगे थे। यह तीसरे मन्वन्तर में था। इस मन्तन्तर का नाम महाभारत में 'वाचक' लिखा है और मनुस्मृति में इसे 'रैवत' कहा है। रैवत का अर्थ है साम गान, अर्थात् जो ग्रह बन चुके थे, वे छन्दोच्चारण करने लगे थे। यह उच्चारण, जैसा कि हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं, तरंगों के रूप में हो रहा था।

सातवें अर्थात् वर्तमान मन्वन्तर का नाम है वैवस्वत। वैवस्वत का अर्थ है सूर्यदत्त। विवस्वान् सूर्य को कहते हैं और प्राणी, वेदानुसार, जैसा कि हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं, सूर्य के पुत्र हैं। इससे यह अनुमान लगाना अयुक्त नहीं होगा कि प्राणी-सृष्टि वर्तमान मन्वन्तर में हुई है।

प्राणी-सृष्टि में सबसे पहले वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं, फिर कीट-पतंग इत्यादि, तदनन्तर पशु-पक्षी और अन्त में मनुष्य उत्पन्न हुए। हमारा अनुमान है कि मनुष्य वर्तमान चतुर्युगी के आरम्भ में उत्पन्न हुए। जब मानव-सृष्टि हुई तो जो उनमें पूर्व-कल्प के पुण्यकर्मा और विद्वान् थे, उन्होंने तरंग-रूप में आते हुए छन्दों को समझा और फिर सामान्य मनुष्यों के हितार्थ तत्कालीन राष्ट्री (जन-भाषा) में कहा।

इस पर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सूर्य के अन्य ग्रहों पर मानव-सृष्टि है अथवा नहीं? आजकल अन्तरिक्ष-यान छोड़े जा रहे हैं, जिससे पता चल सके कि वहाँ पर मानव-सृष्टि है अथवा नहीं? हमारा अनुमान है कि उन सब नक्षत्रों पर जिनका अन्तर, पृथिवी के सूर्य से अन्तर से, अधिक है, वहाँ सृष्टि अब नहीं। वहाँ ऊष्मा पृथिवी से कम हो चुकी है। किसी समय जब सूर्य

वर्तमान से अधिक गर्म था, तब वहाँ ऊष्मा आजकल से अधिक रही होगी। जब वहाँ ऊष्मा रही होगी जैसी आजकल पृथिवी पर है, तब वहाँ भी ऐसी सृष्टि रही होगी।

हम समझते हैं कि मंगल ग्रह पर भी सृष्टि नहीं रही। वह भी पृथिवी के अनुपात में सूर्य से अधिक अन्तर पर है और वहाँ पर भी अब सूर्य का वह प्रभाव नहीं रहा जो आजकल पृथिवी पर है।

ऐसा अनुमान है कि जब सूर्य और ठंडा हो जाएगा तब पहले शुक्र पर प्राणी-रचना होगी। अभी वहाँ का जलवायु प्राणी-सृष्टि के अनुकूल नहीं। यह माना जाता है कि शुक्र की भूमि का तापक्रम लगभग एक सौ दर्जा सेन्टीग्रेड है। इस तापक्रम पर प्राणी-सृष्टि असम्भव है। न वहाँ जल तरलावस्था में रह सकता है, न ही वायु में नाइट्रोजन से कार्बन बन सकती है।

बुध ग्रह तो सूर्य के और भी समीप है। वहाँ तापक्रम लगभग ५०० दर्जा सेंटीग्रेड है। जब शुक्र और बुध पर प्राणी के रहने के योग्य जलवायु होगा, तब पृथिवी पर प्राणी-सृष्टि नहीं रहेगी। कारण यह है कि तब तक सूर्य इतना ठंडा हो चुका होगा कि पृथिवी पर बर्फ जम रही होगी और कदाचित् तब जल बर्फ के रूप में भी नहीं होगा। यदि इस विषय में किसी प्रकार की भविष्यवाणी की जाए तो यह आज से तीन-चार मन्वन्तर उपरान्त होगा।

हमने यह बताया है कि मानव-सृष्टि इस पृथिवी पर वर्तमान चतुर्युगी के आरम्भ में उत्पन्न हुई प्रतीत होती है। इसे भारतीय ज्योतिष शास्त्र के अनुसार आज चालीस लाख वर्ष से ऊपर हो चुके हैं।

वर्तमान चतुर्युगी में एक महान् विनाशकारी घटना हो चुकी है। यह कहा जाता है कि पूर्ण पृथिवी, एक बार जल में डूब गई थी। इसे महाजल-प्लावन कहते हैं।

इस जल-प्लावन की उस जल-प्लावन से भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए जो प्राणी-सृष्टि से पहले पृथिवी पर हुआ था। यह कहा जाता है वर्तमान (वैवस्वत) मन्वन्तर में वर्तमान चतुर्युगी के पूर्व पृथिवी पर जल-प्लावन हुआ था और उस समय जब पृथिवी जल से कमल-समान निकलने लगी तो उस पर ब्रह्मा (परमात्मा की कर्तृत्व-शक्ति) से प्राणी-सृष्टि हुई।

परन्तु जिस प्लावन का हम इस समय उल्लेख कर रहे हैं, वह मानव-सृष्टि होने के बहुत काल व्यतीत हो जाने पर हुआ था। इस प्लावन का उल्लेख भारतीय शास्त्रों में तो मिलता ही है, साथ ही अन्य प्राचीन ग्रन्थों में

भी (मिश्री, यहूदी, बाबल जातियों के प्राचीन ग्रन्थों में) पाया जाता है ।

जिस घटना का इस प्रकार भूमण्डल के अनेक ग्रन्थों में वर्णन मिलता हो वह कितनी बड़ी दुर्घटना रही होगी, इसका अनुमान लगाया जा सकता है ।

पण्डित भगवद्दत्त जी ने अपनी रचना 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' के प्रथम भाग में (संस्करण २०१८ संवत्) पृष्ठ २०४ पर, लिखा है और वहाँ अनेक देशों के प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि यह घटना सत्य ही घटित हुई है ।

एक भूल पण्डित भगवद्दत्त जी ने की है । वह यह कि उन्होंने इस जल-प्लावन को प्राणी-सृष्टि से पूर्व होनेवाले प्लावन से सम्बद्ध किया है । भारतीय शास्त्रों में और दूसरे देशों के ग्रन्थों में भी यह स्पष्ट बताया है कि यह प्लावन मानव-सृष्टि हो जाने के एक युग उपरान्त हुआ । महाभारत में इस विषय में लिखा है—

आदित्ये सवितुर्ज्येष्ठे विवस्वान्जगृहे ततः ॥
त्रेतायुगादौ च पुनर्विवस्वान्मनवे ददौ ।
मनुश्च लोक भूत्यर्ष सुतायेक्ष्वाकवै ददौ ॥

—महाभा० (पुणे० सं०) १-३३६-४६,४७

अर्थ हैं—आदित्य के वंशज विवस्वान् के परिवार में त्रेता युग के आरम्भ में विवस्वान् मनु उत्पन्न हुआ और उसने पुनः मनुष्य-समाज उत्पन्न किया और इक्ष्वाकु को जन्म दिया ।

यहाँ इस बात का संकेत है कि जो मनु प्लावन में बचा था और जिसने पुनः मानव-सृष्टि उत्पन्न की थी, वह त्रेता युग के आरम्भ में हुआ था ।

इस तथा भूमण्डल के प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेख से यह सिद्ध है कि प्लावन हुआ था । मानव-सृष्टि का काल वैवस्वत मन्वन्तर के आरम्भ में समझा जाये अथवा वर्तमान चतुर्युगी के आरम्भ में समझा जाये, इसमें मतभेद हो सकता है, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि त्रेता युग के आरम्भ में जहाँ मानव-सृष्टि पुनः की गई, वहाँ वेदों का प्रचार भी पुनः किया गया ।

महाभारत में एक अन्य स्थान पर स्पष्ट कहा है—

इक्ष्वाकुणा व कथितो व्यापय लौकानवस्थितेः ।

—महाभा० (पुणे० संस्क०) १२-३३६-४८

अर्थ है—इक्ष्वाकुणा के उपदेश से वेद-धर्म का पुनः व्यापक प्रचार हो गया ।

यह इतिहास हो गया कि त्रेता युग के आरम्भ में भी वेदों का पुनः प्रचार हुआ था। सतयुग और त्रेता युग की संधि ज्योतिष-शास्त्रानुसार आज से १९ लाख वर्ष पूर्व हुई थी।

जल-प्लावन से पूर्व का इतिहास तो प्लावन से पूर्व के बचे लोगों के कथनों से ही किंवदन्तियों के रूप में ज्ञात है, परन्तु उसके उत्तर-काल का इतिहास पुराणों में पर्याप्त स्पष्ट रूप में और व्याख्या से मिलता है।

पं० भगवद्दत्त अपने 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' (प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १५८) में लिखते हैं—वायु पुराण में २४ त्रेता और २८ द्वापर माने गये हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि त्रेता युग के चौबीस भाग किये गये हैं और प्रत्येक का किसी मुख्य महापुरुष के नाम पर नामकरण किया गया है। चौबीसवें भाग का नाम राम पर है। इसी प्रकार द्वापर का है। इतने पुराने काल का इतना विस्तार से इतिहास अन्य किसी देश का नहीं मिलता।

जहाँ यह बात भारतवर्ष के विद्वानों का गुण माना जाना चाहिए, वहाँ मिथ्या कहकर इसकी निन्दा करना अज्ञानता की पराकाष्ठा ही कही जा सकती है। द्वापर का विवरण अधिक स्पष्ट है। यह इस कारण कि सतयुग की अपेक्षा द्वापर का काल आज के अधिक समीप है। ऐसा होना भी चाहिए।

लाखों वर्ष के इतिहास को इससे अधिक व्याख्या में सुरक्षित रखना न केवल असम्भव था वरन् व्यर्थ भी होता, विशेष रूप में जब मुद्रण-कला का प्रचार नहीं था।

महाभारत के अन्त के काल का विवरण तो महाभारत ग्रन्थ में अधिक व्याख्या से मिलता है। इसके लिए महाभारत पढ़ना चाहिए।

कलियुग के आरम्भ से तो इतिहास का वर्णन और भी अधिक विस्तृत रूप में उपलब्ध है। मगध और पंजाब के राजाओं के राजस्व-काल का स्पष्ट विवरण मिलता है। मगध राजवंशावलियों का विवरण गीता प्रेस गोरखपुर से छपे महाभारत के परिशिष्टांक में दिया गया है। हम संक्षेप में उसे दे रहे हैं—

मगध का राजा सहदेव जो जरासंध का पुत्र था, महाभारत के युद्ध में मारा गया था। उसके पुत्र जयद्रथ से वंशावली आरम्भ होती है। तदनन्तर प्रद्योत वंश सत्तारूढ़ हुआ। वंशावली इस प्रकार है—

जयद्रथ वंश ने	१००१ वर्ष तक राज्य किया।
प्रद्योत वंश ने	१२८ वर्ष तक राज्य किया।

शिशुनाग वंश ने	३६२ वर्ष तक राज्य किया।
महापद्म नन्द ने	१०१ वर्ष तक राज्य किया।
मौर्य वंश ने	१३६ वर्ष तक राज्य किया।
शुंग वंश ने	१११ वर्ष तक राज्य किया।
कण्व वंश ने	४५ वर्ष तक राज्य किया।
आन्ध्र वंश और अमीर वंश ने	४५६ वर्ष तक राज्य किया।
अमीर वंश का काल ईसा पूर्व	७५२ वर्ष
आज ईसा सम्वत्	१९७६ है[१]
अर्थात् महाभारत-युद्ध का काल है	५०६८ वर्ष

उत्तरी भारत के राजाओं की वंशावली महर्षि दयानन्द जी ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश में प्रकाशित की है। उस ग्रन्थ के ग्यारहवें समुल्लास के अन्त में दी गई वंशावलियों का सारांश यहाँ दिया जा रहा है—

युधिष्ठिर की	३०	पीढ़ी	राज्य-अवधि	१७७०	वर्ष	११	मास	१०	दिन
विश्रवा की	१४	पीढ़ी	राज्य-अवधि	५००	„	३	„	१७	„
वीर महा की	१६	„	„	४४५	„	५	„	३	„
धन्धर की	९	„	„	३७४	„	११	„	२६	„
महान् पाल की	१	„	„	१४	„	०	„	०	„
विक्रमादित्य की	१	„	„	३९	„	०	„	०	„
समुद्रपाल की	१६	„	„	३७२	„	४	„	२७	„
मलुख चन्द्र की	१०	„	„	१९१	„	१	„	१६	„
हरि प्रेम की	४	„	„	५०	„	०	„	२१	„
आधी सेन की	१२	„	„	१५१	„	११	„	२	„
दीप सिंह की	६	„	„	१०७	„	६	„	२२	„
पृथ्वीराज की	५	„	„	८६	„	०	„	२०	„

कुल १२ राजवंश पीढ़ियाँ, १२४ राज्यकाल, ४१५७ वर्ष ९ मास १४ दिन

क्योंकि यह युधिष्ठिर-संवत् है, अत: कलि-सम्वत् ४१०३ प्रतीत करने के लिए युधिष्ठिर का राज्यकाल ३६ वर्ष ८ मास २५ दिन कम करने चाहिएँ। अभिप्राय यह है कि पृथ्वीराज के वंशज कलि-संवत् ४१५७ में भारतवर्ष में राज्य कर रहे थे।

१. पुस्तक की रचना के समय

पृथ्वीराज के वंशज यशपाल को शहाबुद्दीन ग़ोरी ने पराजित किया था। वर्तमान इतिहास, जो स्कूलों-कॉलिजों में प्रचलित है, वह मुसलमानों का लिखा है। उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

भारतीय काल-गणना के अनुसार विक्रमी संवत् कलि-संवत् ३०४४ के पश्चात् आरम्भ हुआ। यह बात भारतीय कालगणनानुसार सर्व-सम्मत है।

शहाबुद्दीन ग़ोरी ने सं० ११७२ (सन् १११५) में दिल्ली पर अधिकार किया था। आज ईसवी सन् १९७६ है, अतः १९७६-१११५ = ८६१ वर्ष पूर्व।

इससे यह गणना बनती है कि युधिष्ठिर-राज्य को आज हुए हैं—४१५७ +८६१ = ५०१८ वर्ष।

इस गणना तथा उपरलिखित पूर्ण-गणना में कुछ अन्तर है। कदाचित् उत्तरी भारत के राज्य-काल में कुछ भूल है। कुछ भी हो, यह निश्चित ही है कि कलियुग को लगभग ५,००० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

हमने इस पुस्तक में वेद के काल से आज तक इतिहास की परम्परा दी है। इसका प्रयोजन यह है कि यूरोपियन लेखकों ने भारत का इतिहास भारतीय साधनों से संकलित करने का यत्न न कर, विदेशियों के अविश्वसनीय लेखों से संकलित करने का यत्न किया है। यह क्यों किया गया है? इसमें पक्षपात और भारत के साहित्य की अप्राचीनता प्रसिद्ध करने के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं हो सकता।

हमने यह सब वेदों की प्राचीनता को निर्विवाद रूप में सिद्ध करने के लिए लिखा है। वेदों के अपने कथनानुसार वेद छन्दों के रूप में तो सृष्टि-रचना के तीसरे मन्वन्तर में उच्चारित हुए थे। हमारे मतानुसार इसको आज १,९६,०९,५२,९९१ वर्ष हो चुके हैं।

'सूर्य सिद्धात' में जो सृष्टि-रचना के आरम्भ का काल कहा है, वह हम ऊपर दे आये हैं। दोनों में अन्तर होना स्वाभाविक ही है। वेदानुसार छन्दों का उच्चारण तब हुआ जब हिरण्यगर्भ फटा और नक्षत्र-ग्रहादि बन चुके थे।

'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' पर टिप्पणी लिखते हुए पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने भी सृष्टि-संवत् १,९७,२९,४९,०७६ माना है। स्वामी दयानन्द जी द्वारा दिया काल हम छन्द-उच्चारण-काल मानते हैं।[१]

यहाँ आर्यसमाज-क्षेत्र में चल रही एक चर्चा का उल्लेख कर देना

१. देखिये 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका', अजमेर संस्करण, दयानन्दाब्द १२४, पृष्ठ पंक्ति २६, ६ पर।

उचित ही होगा। कुछ लोग यह मानते हैं कि वेद का आविर्भाव-काल जो स्वामी दयानन्द ने कहा है, वह सृष्टि-रचना का काल भी है। स्वामी जी ने भी ऐसा ही माना है। परन्तु स्वामी जी की भूल यह नहीं कि वेद के आविर्भाव को कितने वर्ष हुए हैं। भूल सृष्टि-रचना काल में है और वह भूल गणित की है।

लिखा है— और इन चारों युगों के (४३,२०,०००) तैंतालीस लाख बीस हज़ार वर्ष होते हैं, जिनका चतुर्युगी नाम है। इकहत्तर (७१) चतुर्युगियों के ३०,६७,२०,००० 'तीस करोड़, सरसठ लाख, बीस हज़ार' वर्ष हुए और सातवें मन्वन्तर में यह अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है।

बस, भूल इसी कथन में है। एक ब्रह्म-दिन में ४,३२,००,००,००० वर्ष होते हैं। इसके अनुसार मन्वन्तर में ३०,८५,७१,४२८ वर्ष बनते हैं और ब्रह्म-दिन में १००० चतुर्युगियाँ होती हैं। इस गणना से एक मन्वन्तर में ७१.४३ चतुर्युगियाँ बनती हैं, केवल ७१ नहीं।

इस थोड़ी-सी भूल से पूर्ण गणना में चार करोड़ वर्ष के लगभग का अन्तर पड़ गया है। हम समझते हैं कि यह भूल स्वामी जी द्वारा नहीं हुई। इसका एक उदाहरण हम यहाँ देकर बात स्पष्ट करना चाहते हैं।

'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' के इतने संस्करण निकल चुके हैं। यह अब तक ठीक हो जानी चाहिए थी अथवा इसके नीचे टिप्पणी तो दी ही जा सकती थी।

स्वामी दयानन्दकृत यजुर्वेद-भाष्य (आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, खारी बावली दिल्ली द्वारा प्रकाशित) की भूमिका में आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति लिखते हैं—

इस समय प्रायः ऋषि विरुद १,९७,२९,०४,९०,७३ सम्वत् का प्रयोग किया जाता है।

यह अंक अशुद्ध छपा है। (यह भूल पं० प्रियव्रत जी की नहीं, ग्रन्थ के सम्पादक की है।) अंक होना चाहिए १,९७,२९,४९,४०६। महर्षि सृष्टि की आयु १००० चतुर्युगी मानते हैं और भुक्त काल ९९४ चतुर्युगी मानते हैं। वे सृष्टि-उत्पत्ति-काल और वेदोत्पत्ति-काल को एक ही मानते हैं। इसके आगे जो कुछ लिखा है, वह लेखक ने अपने मन से लिखा है। स्वामी जी ने ऐसा कुछ नहीं लिखा। परन्तु जो कुछ पण्डित प्रियव्रत जी ने लिखा है, वह भी अशुद्ध है।

तनिक देखें—

ब्रह्म-दिन = १००० चतुर्युगियाँ = १४ मन्वन्तर

अत: एक मन्वन्तर = ७१.४३ चतुर्युगियाँ

इस प्रकार व्यतीत ६ मन्वन्तर = ४२८.५८ चतुर्युगियाँ

सातवें मन्वन्तर का व्यतीत काल = २७ चतुर्युगियाँ

अत: ६ मन्वन्तर और सत्ताईस चतुर्युगियाँ = ४५५.५८ चतुर्युगियाँ

पण्डित प्रियव्रत जी ने कहा है कि स्वामी जी मानते थे कि भुक्त काल की ९९४ चतुर्युगियाँ हैं।

जो कुछ पं० प्रियव्रत जी ने कहा है वह स्वामी जी का कहा नहीं है। यह पंडित जी की अपनी कल्पना है और अशुद्ध है।

खण्ड चार

: १ :

वेदों के मुख्य विषय

इस छोटी-सी पुस्तक में सब विषय नहीं बताये जा सकते। उनके नाम और उनका अतिसंक्षिप्त वर्णन भी सम्भव नहीं। इस कारण केवल मुख्य विषयों के ही नाम और उनसें से दो-एक का ही कुछ परिचय यहाँ दिया जा सकता है। वैसे मुख्य विषय ये हैं—

(१) सृष्टि-रचना।

(२) रचनाओं में देवताओं की उत्पत्ति और उनका कार्य।

(३) मानव-व्यवहार।

(४) पदार्थ-विज्ञान।

(५) परमात्मा की स्तुति अर्थात् उसके गुण-कर्म-स्वभाव का वर्णन।

इन और संसार के अन्य विषयों को कहने के लिए कुल बीस हज़ार तीन सौ छियालीस (२०,३४६) मंत्र हैं—

परन्तु परमात्मा का संसार इतना बड़ा है कि इतने बड़े मन्त्र-भण्डार में भी केवल अतिसंक्षेप में ही विषय का वर्णन किया जा सका है।

मन्त्र-गणना का वर्णन करते हुए हम यहाँ पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा दी गई एक टिप्पणी को उद्धृत करना चाहते हैं। यह उन्होंने 'रामलाल कपूर ट्रस्ट' द्वारा प्रकाशित महर्षि दयानन्द-रचित भाष्य में दी है। इस विषय पर अन्य कहीं लिखा नहीं मिला।

ऋग्वेद की ऋक्-गणना पर कुछ मतभेद पाया जाता है। इस विषय में मीमांसक जी लिखते हैं—

विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रदर्शित ऋक्-संख्या पर विचार करने से पूर्व ऋग्वेद से ऋक्-गणना की जो विशिष्ट पद्धति है उसको समझ लेना अत्यावश्यक है, क्योंकि इसकी यथार्थता न समझने के कारण समस्त आधुनिक विद्वानों ने ऋक्-गणना में भयंकर भूलें की हैं।

ऋग्गणना और द्विपदा ऋचाएँ

ऋग्वेद में कुछ मन्त्र ऐसे हैं, जिनको किसी समय दो-दो पाद का एक मन्त्र मानकर गिनते रहे हैं और किसी समय उनको चार-चार पाद का एक मन्त्र मानते रहे हैं। अर्थात् उस समय दो-दो पाद के द्विपात्-मन्त्रों का एक चतुष्पात् मन्त्र माना जाता रहा है। द्विपदा के पक्ष में ऋग्वेद में समस्त १५७ द्विपदा ऋचाएँ हैं। इनमें १७ नित्य द्विपदा ऋचाएँ हैं। शेष १४० द्विपदा ऋचाएँ नैमित्तिक हैं, अर्थात् ये १४० वस्तुत: द्विपदा नहीं हैं।

अत: १४० को दो से भाग देने पर ७० चतुष्पदा ऋचाएँ हुईं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'द्विपद: शंसति' आदि वाक्यों से ये ऋचाएँ द्विपदा बनाकर यज्ञ में विनियुक्त की जाती हैं। अत: इस ७० × २ = १४० ऋचाओं को 'नैमित्तिक द्विपदा' कहा जाता है। इनके विषय में ऋक्सर्वानुक्रमणी के परिभाषा-प्रकरण में इस प्रकार लिखा है—'द्विद्विपदास्त्वृच: सममनन्ति'।

यही कारण है कि ऋग्गणना में कहीं-कहीं मतभेद दिखाई देता है। उदाहरण के रूप में शौनकीय अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार १०५८० और १ पाद ऋक्-संख्या है।

ऋक्सर्वानुक्रमणी (टीकाकार जगन्नाथ) के अनुसार १०५५२, चरण-व्यूह टीकाकार महिदास बालखिल्य सहित ऋक्-संख्या १०५५२ बताते हैं। स्वामी दयानन्द ने समस्त ऋचाओं का योग १०५८९ लिखा है।

श्री मीमांसक जी ने इसमें भी अशुद्धि निकाली है। दशों मण्डलों की पृथक्-पृथक् मंत्र-संख्या का जोड़ करने पर १०५२१ बनता है। मीमांसक जी का मत है कि स्वामी जी ने भूल की है और फिर अक्षरों में भूल करने से शब्दों में भी भूल हो गयी है। सुतरां स्वामी दयानन्द जी की गणनानुसार ऋक्-संख्या १०५२१ बनती है। मीमांसक जी का कहना है यह संख्या १०५२२ होनी चाहिए।

यजुर्वेद की मन्त्र-संख्या १९७५ है। सामवेद में १८७३ और अथर्ववेद में ५९७७ मंत्र हैं। इस प्रकार कुल मन्त्र-संख्या २०,३४६ है।

यह विवरण हमने इस कारण दिया है जिससे पाठक समझ लें कि किस अथाह ज्ञान-सागर की प्रवेशिका हम लिख रहे हैं। जिस विषय पर भी हम आगे चलकर लिखेंगे वह अति-अति संक्षेप में ही हो सकता है।

: २ :

वेद में सृष्टि-रचना

जगत्-रचना से पूर्व

वेद में कहा है कि जगत्-रचना से पूर्व यहाँ कुछ भी सत् (स्वरूपवान्) तथा असत् (अस्वरूपवान्) नहीं था। एक अन्धकारमय गहन गम्भीर समुद्र की भाँति था।

यहाँ कोई ऐसी वस्तु नहीं थी जो नाश को प्राप्त हो रही हो। न ही कुछ ऐसा था जो बन रहा हो। सब शान्त निश्चल था। इस पर भी एक पदार्थ था जिसे स्वधा कहते हैं क्योंकि वह अपने-आप स्थित था। इसके साथ एक आनीदवातं (शान्त निश्चल शक्ति) भी थी। आनीदवातं का अर्थ है—न काम कर रही शक्ति। ऋ० १०-१२९-१,२०,

ऋग्वेद के इन दो मन्त्रों का भाव सांख्यदर्शन के सूत्र १-६१ में बताया है—**'सत्त्व रजस् तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'**।

अर्थ है—स्वधा अर्थात् प्रकृति के परमाणुओं में सत्त्व, रजस् और तमस् गुण साम्यावस्था में थे।

शतपथ ब्राह्मण में वर्णन इस प्रकार है—

'असद्वाऽइदमग्रऽआसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्तदाहुः के तऽऋषय इति प्राणा'··· —शतपथ ब्रा० ६-१-१-१

अर्थात्—पहले यह सब असत् (अरूपवान्) ही था। इस पर कहते हैं कि वह असत् क्या था? पहले वह असत् ऋषि ही थे। इस पर कहते हैं कि ऋषि कौन थे? वे ऋषि प्राण थे।

अभिप्राय यह कि वर्तमान् जगत् की रचना के पूर्व एक स्वधा थी और दूसरा प्राण था। स्वधा अप्रज्ञात अवस्था में थी और प्राण निश्चल था।

ऐसी अवस्था में रचना का प्रथम कार्य हुआ।

वर्तमान रचना से पूर्व अन्धकारमय गहन गम्भीर समुद्र में स्वधा सलिल-अवस्था में थी। सलिल का अभिप्राय है बह जाने वाली (जैसे जल

बह जाता है)। इसका अभिप्राय है कि स्वधा परमाणु-अवस्था में थी और वे परमाणु परस्पर असम्बद्ध थे। इस समय एक महान् शक्ति सक्रिय हो गई। इसका अभिप्राय यह है कि वह शक्ति जो अचलावस्था में थी, वह चलायमान हो गई।

इस समय न तो प्रकाश था, न ही कोई वस्तु थी जिस पर प्रकाश पड़ सके।

अब वह महान् जिसका ऊपर के मन्त्र में वर्णन किया गया है, घोर नाद करता हुआ उत्पन्न हुआ। इसे इस मन्त्र में अर्वन् कहा है। यह तीव्र गति से अन्तरिक्ष में ऊपर को चला और यह त्रितों (सत्त्व, रजस्, तमस् के गुट्ट) पर अधिष्ठित हो गया। यह अश्व था। इसने रचना की गाड़ी चला दी।

—ऋ० १-१६३-१

यह अर्वन् जिसे तेज और अतिमहान् भी कहा है, जब त्रितों अर्थात् परमाणुओं पर अधिष्ठित हुआ, तब यह सूर्य की रश्मियों के समान तिरछी गति से चलता हुआ आया था और यह परमाणुओं के ऊपर और नीचे छा गया। —ऋ० १०-१२९-४

कहा है—

असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि॥

—ऋ० १-१६३-३

अर्थात—तू यम है। प्रकाशमान् है। तू अर्वन् है। परमाणुओं के गुप्त गठजोड़ से, उसकी शान्ति (साम्यावस्था) से पृथक् रूप वाले कहते हैं, तीन दिव्य गुणयुक्त संयोग बन गये, अर्थात् तीन अहंकार बने।

तमोभूत अवस्था में परमात्मा का तेज उत्पन्न हुआ। उसे महान् कहा है। उसे अर्वन् भी कहा है क्योंकि वह तेज भागता है। वह वेग से स्वधा के परमाणुओं पर छा गया और गुह्य व्रत (संगठन) को तोड़कर प्रकृति की साम्यावस्था भंग कर तीन अहंकार उत्पन्न किये। ये परमाणुओं से पृथक् प्रकार के थे और दिव्य गुणयुक्त थे। आगे कहा है—

त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन्यत्रा त आहुः परमं जनित्रम्॥

—ऋ० १-१६३-४

अर्थात्—समुद्र (अन्तरिक्ष) में वे तीन दिव्य गुणयुक्त (अहंकार) बनने

पर वे तीन अपः हुए। वे वैसे ही थे। वहाँ से (छन्त्सि) संयुक्त होने लगे और उनके इस कर्म से (परमम्) परम अर्थात् जगत् बनने लगा।

यहाँ परमम् का अर्थ जगत् किया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार यह तीन ब्रह्मों से बना होने से परम ब्रह्म है। (श्वे० १-७)

अहंकारों को अपः कहा है और पूर्ण चराचर जगत् उसी से बना है। आगे कहा है—

इमा ते वाजिन्नवमार्जनानीमा शफानां सनितुर्निधाना।
अत्रा ते भद्रा रशना अपश्यमृतस्य या अभिरक्षन्ति गोपाः ॥

—ऋ० १-१६३-५

अर्थात्—वह जो ऊपर बताये तीन दिव्य गुणयुक्त जगत्-रचना कर रहे हैं, अश्व-समान रचना-कार्य को आगे और आगे ले चलते हैं। वे पदार्थों का शोधन-विभाजन करने लगे जिससे हम देखते हैं कि पदार्थों का सेवन और रसास्वादन होता है और जिनसे संसार की रक्षा करते हैं।

यह हुई जगत्-रचना। ऐसी सृष्टि-रचना बार-बार होती है—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्, तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ —ऋ० १०-१९०-१
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहो रात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ —ऋ० १०-१९०-२

अर्थात्—सब ओर से किये जाने वाले तप से (तेज से उत्पन्न होने वाली गरमी से) ऋत (सृष्टि-रचना के अनादि नियम) और सत्य[१] प्रकट हुआ। उसी (ऋत और सत्य) से रात्रि (प्रलयकाल) उत्पन्न हुई। उसी से समुद्र (अन्तरिक्ष) में अर्णव (हलचल उत्पन्न) हुई ॥ १ ॥

उस विक्षुब्ध अन्तरिक्ष में संवत्सर (काल) उत्पन्न हुआ। काल उत्पन्न होने से दिन और रात बन गये। और इस निमिषादि काल के वश में सम्पूर्ण जगत् हो गया। इसका अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण चराचर जगत्, कालाधीन व्यवहार करने लगा ॥ २ ॥ आगे कहा है--

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥—ऋ० १०-१९०-३

अर्थात्—जैसे पूर्व के कल्पों में बताया था, परमात्मा ने वैसे ही सूर्य,

---

१. स्वरूपवान् जगत्—देखें बृहदा० उप० ५-५-१

चन्द्रमा, आकाश और पृथिवी तथा अन्तरिक्ष के पदार्थों को रचा।

इस प्रकार तेज और स्वधा के परमाणुओं से जगत् और सृष्टि की रचना बताकर यह कह दिया है कि यह कुछ नवीन नहीं बना। अनादि काल से यह बनता और बिगड़ता चला आया है। ब्रह्म-दिन और ब्रह्म-रात्रि अनादि काल से एक-दूसरे के उपरान्त बनते चले आये हैं। रात्रि को भी उत्पन्न किया, इस कथन का यही अभिप्राय है कि रात्रि से पूर्व दिन था।

: ३ :

देवता

यहाँ हम कुछ मन्त्र ऋग् वेद के १०वें मण्डल के ७२वें सूत्र में से दे रहे हैं। इस सूक्त का देवता (विषय) 'देवा:' है, अर्थात्—इस सूक्त में देवताओं का वर्णन है।

देवानां नु वयं जाना प्र वोचाम विपन्यया।
उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे॥ १॥

अर्थात्—हम देवताओं के जन्म की बात को स्पष्ट वाणी में और भली प्रकार वर्णन करते हैं। उत्तर युग में इन्होंने सब मनुष्यों में वेद का उपदेश किया था—ऐसा हम देखते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि सृष्टि-क्रम से कुछ बाद मध्यकाल में—कुछ दिव्य गुण-युक्त पदार्थ बने थे और उन्होंने वेद का उपदेश किया था।

ऋषि बता रहे हैं कि उन्होंने यह होता देखा है। वेदों के छन्द ऋषियों ने ही पहले सुने थे। (यहाँ यह भी कहा है कि वेद सब मनुष्यों के लिए हैं।)

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगे ऽसतः सदजायत॥ २॥

अर्थ है—ब्रह्माण्ड अर्थात् प्रकृति के स्वामी ने इन सब लोकों को लुहार की भाँति गरम कर और ठोक-ठोककर बनाया।

देवताओं की उत्पत्ति से पूर्व के युग में असत् (अव्यक्त) से सत् (व्यक्त) बना था।

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि देवता अव्यक्त प्रकृति से व्यक्त रूप में आ जाने के उपरान्त बने थे।

सांख्यदर्शन में कहा है कि प्रकृति अव्यक्त है। महत् और अहंकार भी अव्यक्त हैं। इनको अविशेष कहते हैं। प्रकृति का व्यक्त रूप तो परिमण्डल बनने पर बना। परिमण्डल को सूक्ष्म महाभूत कहते हैं। इनको आजकल के वैज्ञानिक १०० प्रकार के मानते हैं। परन्तु भारतीय वैज्ञानिक इनको पाँच रूपों

में विभक्त करते हैं—पार्थिव, जलीय, वायवीय, आग्नेय, और आकाशीय। परिमण्डलों के परस्पर संयोगों से स्थूल पंच-महाभूत बनते हैं और वे असंख्य प्रकार के पदार्थ बनाते हैं।

आगे कहा है—

देवानां युगे प्रथमे ऽसतः सदजायत।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि॥ ३॥

देवताओं के निर्माण से कुछ ही पहले अव्यक्त प्रकृति व्यक्त में बदल चुकी थी। तब दिशाएँ बनीं। उसके उपरान्त ऊपर की ओर पग रखनेवाले (सूर्यादि) उत्पन्न हुए।

आगे कहा है—

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि॥ ४॥

अर्थात्—समस्त जगत् के यज्ञ अर्थात् करनेवाले, कर्म में ऊपर चलने वाले (सूर्यादि) प्रकट हुए। सब को उत्पन्न करनेवाली प्रकृति (मूल प्रकृति) से फैल जानेवाली शक्तियाँ (अग्नि, वायु इत्यादि) उत्पन्न हुईं। प्रकृति से दग्ध करनेवाली अग्नि (वैश्वानर) उत्पन्न हुई। उसके बाद पृथिवी इत्यादि बनीं।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जब असत् से सत् बना तो यह मूल से ही बना था। यहाँ 'अदिति से' कहा है। अदिति ही मूल प्रकृति है। असत्-सत् दोनों प्रकृति के ही नाम हैं। असत् अर्थात् अव्यक्त प्रकृति से सत् अर्थात् कार्य-जगत् बना तो अग्नि हुई। यह अग्नि सत्त्व, रजस्, तमस् के आकर्षण-विकर्षण से उत्पन्न हुई थी। इसे वैश्वानर अग्नि कहा है। इसे दक्ष भी कहा है। यह अग्नि चारों ओर फैल गई और इससे निर्माण-कार्य आरम्भ हुआ।

आगे कहा है—

अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः॥ ५॥

अर्थात्—दक्ष से ही अदिति उत्पन्न हुई। (यहाँ अदिति से अभिप्राय है पृथिवी। इसके उत्पन्न होने को ही यज्ञ कहा है।) पृथिवी उत्पन्न हुई जो तेरी लड़की है। उसके उपरान्त बहुत-से दिव्य गुण-युक्त पदार्थ उत्पन्न हुए। कल्याण के लिए उससे अमृत (जीवात्मा) बँध गया।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जब दक्ष (वैश्वानर) की पुत्री पृथिवी

उत्पन्न हो गई तो बहुत-से पदार्थ उत्पन्न हुए जो दिव्य गुणों से युक्त थे और उन पदार्थों से अमृत जीवात्मा बँध गया। इसके उसका कल्याण हुआ।

आगे कहा है—

यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत॥ ६॥

अर्थात्—देवता इस बह जाने वाली प्रकृति से भली प्रकार संगठित होने पर बने और स्थित हुए। इनमें नृत्य करते हुए (जीव) तीव्र गति से आने-जाने लगे।

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि यद्यपि देवता वैश्वानर अग्नि से बने, परन्तु वे बने सलिल (मूल प्रकृति) से ही। तब वे दिव्य गुणवाले पदार्थों में तीव्र गति से ऐसे आने-जाने लगे, मानो वे नृत्य कर रहे हों।

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रा समुद्र आ गूळहमा सूर्यमजभर्तन॥ ७॥

अर्थात्—जैसे मेघ (जल से) लोक-लोकान्तर को तृप्त करते हैं, वैसे ही इस स्थान पर (पृथिवी पर) दूर अन्तरिक्ष में उपस्थित सूर्य अपनी किरणों से सींचता है।

अभिप्राय यह है कि सूर्य अपनी किरणों से पृथिवी को ऐसे ही सींचता है जैसे मेघ वर्षा के जल से भुवनों को सींचता है।

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वऽ स्परि।
देवाँ उप प्रैत्सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत्॥ ८॥

अर्थात्—मूल प्रकृति के आठ पुत्र हैं। (अग्नि के) फैलने से ये उत्पन्न हुए। इन्होंने देवता उत्पन्न किये और मृत खण्डों के रूप में दूर से आकर स्थित हो गये।

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि मूल प्रकृति से जो अहंकार उत्पन्न हुए थे और उनसे अग्नि का विस्तार हुआ था, उससे सात पुत्र उत्पन्न हुए। वे सात पुत्र क्या थे? उनको इस प्रकार समझना चाहिए कि प्राणी-सृष्टि के उत्पन्न होने के उपरान्त बने।

अन्य भाष्यकारों ने इनको सात ग्रह माना है। कुछ ने इनको महत्, अहंकार और पंच तन्मात्र-समूह माना है। हम समझते हैं कि इनका अभिप्राय है प्राणी में कार्य करनेवाले सात प्राण और वायु। मन्त्रों के क्रम और उनमें व्यक्त किये भावों का विचार कर हमारा यही अनुमान बनता है।

आगे मन्त्र में कहा है—

सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत् पूर्व्यं युगम्।
प्रजायै मृत्यवे त्वत् त्पुनमार्ताण्डमाभरत्॥ ९॥

अर्थात्—सात पुत्रों द्वारा इस पृथिवी पर पूर्व-युग के मृत जीव आते हैं। (पूर्व-युग में) प्राणी मरने पर मृत अण्डों के समान यहाँ आये थे और यहाँ उत्पन्न हुए।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जो जीवात्मा इस पृथिवी पर आये, वे पूर्व-कल्प में प्रलय के कारण मृत अण्डों में चले गये थे। वे निर्जीव अण्डों के रूप में ही यहाँ आये। यहाँ आकर वे प्राणी-शरीर को प्राप्त हुए।

इस मन्त्र का यह भी अभिप्राय हो सकता है कि इस पृथिवी पर जन्म लेने (स्थूल शरीर ग्रहण करने) के पूर्व अण्डों के समान सूक्ष्म शरीर में लिपटे हुए आये।

एक बात समझ लेनी चाहिए कि हमने अदिति के दो अर्थ किये हैं— मूल प्रकृति और पृथिवी। इसके दोनों ही अर्थ हैं। जहाँ जो उपयुक्त प्रतीत हो, वह अर्थ प्रयोग करना चाहिए।

वेद के इस सूक्त (ऋ० १०-७२) में देवताओं के बनने का वर्णन है। यह इस प्रकार है कि देवताओं के बनने से पहले अव्यक्त प्रकृति थी। अव्यक्त प्रकृति व्यक्त रूप में हो गई। सांख्य-सिद्धांत के अनुसार प्रकृति के परमाणु असम अवस्था में प्रथम-स्थानीय देवता (ब्रह्म-तेज) के प्रभाव से हुए। तब प्रकृति में परिवर्तनों की परम्परा चल पड़ी।

इस परम्परा में सर्वप्रथम महत् बना, तदनन्तर अहंकार और फिर अहंकारों से मध्य-स्थानीय देवता बने। इन देवताओं में अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण इत्यादि थे।

इन्हीं देवताओं के साथ-साथ सात प्राण भी उत्पन्न हुए। जब पृथिवी पर पृथिवी-स्थानीय देवता बने तो उनमें एक प्राणी भी हुआ। वे सात प्राण प्राणी में आ गये और प्राणियों के मृत अण्डों (सूक्ष्म शरीरों) को पृथिवी पर ले आये और यहाँ प्राणी-सृष्टि हो गई। ये मृत अण्डे (सूक्ष्म शरीर) स्थूल शरीरवाले प्राणियों से पहले बने थे। प्राण ही इनको स्थूल शरीर में लाने में समर्थ हुए।

उपर्युक्त मन्त्रों से यह प्रकट होता है कि अव्यक्त से व्यक्त बनाने के लिए बहुत तप और श्रम किया गया। इसका अभिप्राय है कि उसमें महान् शक्ति का प्रयोग किया गया था और उस शक्ति के प्रयोग से बहुत ताप

अर्थात् ऊष्मा उत्पन्न हुई थी। इस ताप को वैश्वानर अग्नि कहा है। यह इस कारण कि इससे सम्पूर्ण चराचर जगत् बना। उस ताप से तपी हुई प्रकृति से परमात्मा ने लोहार की भाँति भिन्न-भिन्न पदार्थ बनाये।

इस पूर्ण चराचर और सजीव तथा निर्जीव सृष्टि में मनुष्य अंतिम देवता है। देवता का अभिप्राय हम बता चुके हैं—वह पदार्थ, जो दिव्य गुण रखता हो। दिव्य गुणों का उत्पन्न होना केवल परमात्मा से ही सम्भव है। बिना परमात्मा के अन्य कोई शक्ति नहीं जो इन देवताओं को बना सके। ये बनते प्रकृति से ही हैं, परन्तु इसके निर्माण का सामर्थ्य केवल परमात्मा में ही है। इसी कारण इनको दिव्य कहा जाता है।

मनुष्य को भी देवता माना है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का १६४वाँ सूक्त विश्व-देवताओं के विषय में ही है। मनुष्य उनमें प्रथम स्थान पर रखा गया है। इस सूक्त का पहला मन्त्र है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥

—ऋ० १-१६४-१

अर्थात्—इस सुन्दर वृद्धता को प्राप्त होनेवाले (शरीर) का हेतु (यज्ञ में प्रयोग करनेवाला) एक भाई बीच में बैठा भोग करता है।

एक तीसरा भाई सबका पालन करनेवाला और सबका स्वामी है। उसे मैं यहाँ (प्राणी-शरीर में) देखता हूँ। वह यहाँ अपने सात पुत्रों के साथ विद्यमान है।

: ४ :

मानव-व्यवहार

पृथिवी पर वेद-ज्ञान मनुष्यमात्र के लिए ही है। यह पशुओं के लिए नहीं है। इसके विषय में हम मन्त्र (यजुः० २६-२ : यथेमा वाचं) का उद्धरण दे चुके हैं। इस मन्त्र में कहा है कि परमात्मा ने वेद-वाणी मनुष्य-मात्र के लिए कही है। इतर जीव-जन्तुओं के लिए उसमें कथन नहीं है।

मनुष्य-व्यवहार को बतानेवाले मन्त्र ऋषियों ने यजुर्वेद में पृथक् कर रखे हैं। यजुर्वेद इस विषय में विस्तार से कहता है। यही तो सृष्टि-आरम्भ में वेद-ज्ञान देने का उद्देश्य कहा गया है। यजुर्वेद का प्रथम मन्त्र ही यह है कि मनुष्य का जीवन इस भूतल पर दो पदार्थों के आश्रय है। मनुष्य को उसकी स्तुति (इनके गुण-कर्म-स्वभाव को जानने का यत्न) करनी चाहिए। यह मंत्र (यजुः० १-१) भी हम लिख आये हैं। इसमें बताया है कि अन्न और ऊर्जा दो पदार्थ हैं जिन पर मनुष्य-जीवन निर्भर करता है।

परन्तु यह तो सब प्राणियों का है। क्योंकि वेद को समझने का सामर्थ्य मनुष्य में ही है, इस कारण मनुष्य को लक्ष्य रखकर ही सब-कुछ कहा गया है। यूँ तो इस मन्त्र में पशुओं के जीवन में भी ऊर्जा और अन्न के महत्त्व का वर्णन है। वहाँ कहा है कि यह अन्न और ऊर्जा अघ्न्य पशुओं (गाय, भैंस, भेड़, बकरी इत्यादि) के लिए भी माँगे गये हैं।

वास्तव में यजुर्वेद मानवमात्र के लिए ही है।

इसी वेद का दूसरा मन्त्र है कि परमात्मा ने इस सृष्टि की रचना यज्ञ-रूप में की है। इसी कारण परमात्मा को वसु कहते हैं। वसु का अर्थ है यज्ञ।

यज्ञ के अर्थ महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में 'मन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' अध्याय में बताये हैं। स्वामी जी कहते हैं—(१) जिसमें विद्वानों का सत्कार हो; (२) जिसमें ज्ञान-विज्ञान से लोक-कल्याणार्थ वस्तुओं का निर्माण हो; (३) ज़ल, वायु इत्यादि की शुद्धि हो; (४) रचना-कार्य अर्थात् सन्तानोत्पत्ति हो।

अतः मनुष्य-जीवन यदि चार बातों की धुरी पर आधारित हो तो वह

यज्ञमय जीवन कहाता है। यजुर्वेद इसको इस प्रकार कहता है—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ —यजुः० १-५

अर्थात्—हे अग्ने! तू व्रतों का पालन करनेवाला है। मैं व्रत करता हूँ कि मैं अनृत को छोड़ सत्य को ग्रहण करूँ। वह मेरा व्रत सिद्ध हो।

मनुष्य अपनी योजनाओं को पूर्ण करने के लिए संकल्प करता है। दृढ़ संकल्प को ही व्रत कहते हैं। यहाँ अग्नि का अभिप्राय शक्ति, जिससे संसार के काम चलते हैं, भी कहा जा सकता है। अग्नि परमात्मा को भी कहते हैं। वह भी सबके संकल्प पूर्ण करनेवाला है।

मनुष्य जीवन में संकल्प करे कि वह अनृत से सत्य को प्राप्त हो। इसके सामान्य अर्थ हैं कि झूठ को छोड़कर सत्य को ग्रहण करे। ऋत का एक और भी अर्थ है—अनादि नियम। कहा है कि इन अनादि नियमों की अज्ञानता से निकलकर सत्य, जो वस्तुस्थिति है, को प्राप्त होऊँ।

यह जीवन का उद्देश्य भी कहा जा सकता है। अग्नि (ऊर्जा) मनुष्य के सब कामों को पूरा करने की सामर्थ्य रखता है। इस कारण शक्ति को प्राप्त करने अर्थात् उसके गुण, कर्म, स्वभाव को जानने के विषय में कहा है।

यजुर्वेद का यह प्रथम उपदेश है। संसारी मनुष्य के लिए यह ही उपदेश सार्थक है। मनुष्य को जीवन में क्या करना है, इस विषय में दृढ़-संकल्प होकर वह इसमें प्रवेश करे। तब ही सफलता प्राप्त हो सकती है।

इस मन्त्र की व्याख्या में शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि मनुष्य इस प्रकार व्रत करे—

व्रतमुपैष्यन्। अन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ्तिष्ठन्नप-ऽउपस्पृशति··· —शतपथ० १-१-१-१

अर्थात्—वह आहवनीय और गार्हपत्य अग्नियों के बीच में पूर्वाभिमुख खड़ा होकर जल का स्पर्श करे।

इसका अभिप्राय है कि मनुष्य घर में दो प्रकार के कार्य करे—एक लोक-कल्याण के कार्य और दूसरे घर-गृहस्थी को चलाने के कार्य, और इन दो प्रकार के कामों को जीवन-भर चलाये।

अगला मन्त्र इस प्रकार है—

प्रत्युष्टँ᳭ रक्षः प्रत्युष्टाऽ अरातयो निष्टप्तँ᳭ रक्षो निष्टप्ताऽरातयः।
उर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥ —यजुः० १-७

अर्थ है—दुष्ट-जनों की भली-भाँति परीक्षा कर तथा धन लेकर न देने वाले (कंजूस) अथवा परद्रव्यापहारी की परीक्षा कर दुष्ट-जनों को विनष्ट और अरातय का विनाश करूँ। ऐसा करने से मेरी उन्नति हों।

वेद, परीक्षित दुष्ट व्यक्ति और दूसरे का धन लेनेवाले को नष्ट कर देने का उपदेश देता है। इसमें हिंसा-अहिंसा का प्रश्न ही नहीं उठता। जब परीक्षा से निश्चय हो जाये कि अपराधी स्वभाव से अपराध कर रहा है और उसको क्षमा करने से वह सुधरेगा नहीं, तब उसे मानव-कलेवर में नहीं रहने देना चाहिए। ऐसे व्यक्ति की हत्या पाप नहीं, पुण्य है। जिसकी हत्या की जाये उसका भी कल्याण होता है और भले लोगों का भी जिनको उस मारे जाने वाले से मुक्ति मिलती है। उसका सुधार करना अथवा उसके स्वभाव को बदलना तो उसके शिक्षक का काम है। यदि वह शिक्षा प्राप्त करने की आयु से ऊपर हो चुका है तो उसका यह शरीर नष्ट कर उसे पुनः जन्म प्राप्त करा, उस आयु में भेज देना चाहिए जिसमें वह शिक्षा प्राप्त कर सके और अपना स्वभाव बदलने का अवसर प्राप्त कर सके।

जीवन के लिए एक अन्य आवश्यक बात कही है—

भूताय त्वा नारातये स्वरभिविख्येषं दृ॑ हन्तां दुर्य्याः पृथिव्यामुर्वन्त-रिक्षमन्वेमि। पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयाम्यदित्याऽ उपस्थेऽग्ने हव्य॑ रक्ष॥

—यजुः० १-११

अर्थात्—परद्रव्यापहारियों को छोड़कर सब प्राणियों को सब प्रकार से देखूँ (अर्थात् उनकी रक्षा करूँ) उनके सुख-कल्याण के लिए। ऊँचे उठे हुए स्थान पर दृढ़ हुआ और दरवाज़ोंवाला घर, खुली भूमि के बीचोबीच स्थापित करूँ। वहाँ सूर्य-रश्मियाँ पहुँचें और अग्नि तथा हविः की रक्षा हो।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपने और सब भले प्राणियों के कल्याण में प्रवृत्त हो। अपने लिए ऊँची उठी हुई भूमि पर मकान बनाए। उस मकान में द्वार हों। वह दृढ़ हो, उसमें वायु और प्रकाश आ सके। वह मकान खुली भूमि के बीचोबीच हो और उसमें हविः (अन्न) और अग्नि (ऊर्जा) को सुरक्षित रखने के लिए स्थान हो।

शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से हम बता आये हैं कि मनुष्य को दो प्रकार की अग्नियाँ जलानी चाहिएँ। अभिप्राय यह है कि अपने पास शक्ति को दो कार्यों के लिए सुरक्षित रखना चाहिए—एक घर-गृहस्थी के लिए और दूसरे लोक-कल्याण के कार्यों के लिए। इसी प्रकार घर में अन्न-भण्डार को भी

दोनों कार्यों के लिए सुरक्षित रखना चाहिए।

इस भवन-निर्माण के साथ यहाँ कुछ अन्य बात भी कही है—

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः। देवीरापोऽ अग्रेगुवो अग्रेपुवोऽग्रऽ इममद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिँ सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम्॥ —यजुः० १-१२

अर्थात्—(गृह को) दो ही पवित्र करनेवाले हैं—यज्ञ और परमात्मा (यहाँ सवितः का अर्थ परमात्मा है)। ये उत्पन्न करते हैं निरंतर आनेवाली सूर्य की किरणों को और जलों को। दोनों अत्यन्त पवित्र करनेवाले हैं। ये दोनों आगे ही आगे चलते हैं और पवित्र करते हैं। ये ही मनुष्य के यज्ञ को आगे और आगे ले-जाने में सहायक होते हैं। इससे यजमान (गृहस्थी) को धन-वैभव और सुख के साधन उपलब्ध होते हैं।

अभिप्राय यह है कि मकान बनाया है जिसमें प्रकाश, वायु और जल का प्रबन्ध है। यजमान समझता है कि मकान पवित्र होता है दो साधनों से—एक तो परमात्मा की कृपा से और दूसरा यज्ञरूपी कर्म से। परमात्मा ने सूर्य दिया है जो निरंतर अपनी किरणों से मकान को पवित्र रखता है और अन्न तथा शक्ति से परिपूर्ण रखता है, और दूसरे जल देकर। दोनों ईश्वरीय देन हैं और दोनों से ही यजमान यज्ञ कर सकता है। यह भी यजमान के कार्यों को पवित्र करनेवाला है। अतः दोनों के लिए मकान में साधन होने चाहियें। इनसे ही यजमान धन-धान्य से सम्पन्न होता है और सुख-सुविधा प्राप्त करता है।

पूर्ण यजुर्वेद मनुष्य को इस संसार में रहते हुए व्यवहार का ढंग बताता है। यह भी कहा है कि मनुष्य 'समाज' बनाकर रहे। समाज का वर्णन करते हुए कहा है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याꣳ शूद्रोऽजायत॥

—यजुः० ३१-११

अर्थात्—समाज में शिर और मुख ब्राह्मण हों, बाहें क्षत्रिय हों, ऊरू (जंघाएँ) वैश्य हों, पाँव शूद्र हों।

जैसे मनुष्य में ये अंग काम करते हैं, वैसे समाज में ये अंग काम करें। समाज जब किसी देश में विराजमान और शक्ति-सम्पन्न हो तो वह किस प्रकार कार्य करे, इसका वर्णन एक अन्य मन्त्र में किया है। किसी देश में शक्ति-सम्पन्न समाज को राष्ट्र कहते हैं और राष्ट्र का स्वरूप इस मन्त्र में

मिलता है—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरऽ इषव्यो-ऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽ ओषधयः पच्यन्तां योगेक्षेमो नः कल्पताम् ॥

—यजुः० २२-२२

अर्थात्—हे परमेश्वर ! हमारे राष्ट्र में वेदज्ञ ब्राह्मण उत्पन्न हों। राष्ट्र में शूरवीर क्षत्रिय जो निशाना लगाने में कुशल हों, उत्पन्न हों। ये शत्रुओं पर विजय पानेवाले हों। महारथी (सेना-नायक) उत्पन्न हों। हमारे राष्ट्र में दूध देनेवाली गउएँ और बोझा ढोनेवाले बैल हों। शीघ्रगामी घोड़े, बहुत सन्तान उत्पन्न करनेवाली स्त्रियाँ, शत्रुओं पर विजय पानेवाले और रथों पर सवारी कर सकनेवाले शूरवीर और सभा-समाजों में यश प्राप्त करनेवाले युवक उत्पन्न हों। हमारे राष्ट्र में यजमानों के युवक उत्पन्न हों और समयानुसार वर्षा हो। खेतों में उपज फलवाली हो, देश में सदा योग-क्षेम बना रहे।

वैसे तो वेदों में अनेक विषयों पर लिखा हुआ है और उस सब में कुछ भी ऐसा नहीं, जो किसी भी काल में अनावश्यक अथवा असत्य प्रतीत हो। वेद में वर्णित सब विषयों पर कहने का तो न हमारा विचार है और न ही इस छोटी-सी पुस्तक में सम्भव है। इस पुस्तक का उद्देश्य तो केवल इतना स्पष्ट करना है कि वेद-विषय में प्रवेश करनेवाले जिज्ञासुओं को ज्ञात हो जाये कि वे किस अथाह सागर में प्रवेश कर रहे हैं और किस प्रकार उसमें तैरते हुए उसका रसास्वादन करते हुए थाह पा सकेंगे।

खण्ड पाँच

: १ :

विशेष शब्द

इस खण्ड में हम वेद में वर्णित कुछ विशेष शब्दों का अभिप्राय बताना चाहते हैं।

(१)

ईश्वर

इस विषय में एक वेदमन्त्र इस प्रकार है—

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

—यजु.० ४०-१

स्वामी दयानन्द ईश का अर्थ करते हैं—

ईश्वरेण सकलैश्वर्यसम्पन्नेन सर्वशक्तिमता परमात्मना।

अर्थात्—सकल ऐश्वर्य्य-सम्पन्न सर्वशक्तिमान् ईश्वर।

यह जो सब चलायमान जगत् में है उस (ईश्वर) से छाया हुआ है, अर्थात् वह उसमें व्याप्त है (अर्थात् यह सब उसका बनाया है)। वह अन्य किसी का भी नहीं है। इस कारण उसका त्यागपूर्वक बिना लालच-भाव के भोग कर।

ईश्वर का अर्थ उस महान् ऐश्वर्यवान् आत्म चेतन तत्त्व से है जो इस पूर्ण चलायमान जगत् का निर्माता और पालनकर्त्ता है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि रचना से पूर्व जो कुछ (न सत् न असत्—ऋ० १०-१२९-१) था क्या परमात्मा उसका स्वामी नहीं है?

वेद का कहना है कि तीन अनादि तत्त्व इस संसार में विद्यमान हैं। तीनों के अपने-अपने गुण, कर्म और स्वभाव हैं। उस मूलावस्था में कोई भी एक-दूसरे पर स्वामित्व नहीं रखता। इन तीनों में दो चेतन तत्त्व हैं और तीसरा जड़ है। इस पर भी दोनों चेतन इस जड़ पर आश्रित रहते हैं। इस विषय में मन्त्र है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

—ऋ० १-१६४-२०

इस मन्त्र में तीन तत्त्वों का वर्णन है। दो चेतन हैं, एक जड़ है और काँट-छाँटकर उसे अनेक रूपों में किया जा सकता है। फिर भी तीनों अनादि हैं और इनके बनानेवाला कोई नहीं।

परन्तु जगत् (सूर्य, चन्द्र, पृथिव्यादि) तो मूल प्रकृति से परमात्मा ने निर्माण किये हुए हैं। इस कारण वह उस पर छाया हुआ है। वह इस सबका स्वामी है।

(२)
अग्नि

इसके विषय में मन्त्र है—

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥

—ऋ० २-१-१

अर्थात्—हे अग्ने! तू सूर्य द्वारा (प्राप्त होती) है। तू शीघ्र ही विनष्ट करने की सामर्थ्य रखती है। तू जलों द्वारा भी प्राप्त होती है। तू पत्थरों से भी प्राप्त होती है। तू वनस्पतियों में, ओषधियों में से भी प्राप्त होती है। मनुष्यों की तुम राजा हो (तुम उसके कामों पर नियन्त्रण रखती हो)। तुम पवित्र उत्पन्न होती हो।

अग्नि सूर्य से तो आती ही है—यह सर्वविदित है। यहाँ अग्नि से अभिप्राय शक्ति है। जलों से उत्पन्न होने का अभिप्राय बादलों में विद्युत् के रूप में उत्पन्न होने से है। वनस्पतियों से अभिप्राय लकड़ी से भी हो सकता है और वनस्पतियों के सेवन से शरीर में शक्ति के संचार से भी हो सकता है। इसका प्रभाव विनष्ट करना भी है।

अतः अग्नि से अभिप्राय उस शक्ति से है जो निरन्तर सूर्य से पृथिवी पर आती है और फिर पृथिवी के सब पदार्थों में उपस्थित देखी जाती है। मनुष्य के शरीर में यह प्राण के रूप में शासन करती है।

अग्नि सब रूपों में मध्य-स्थानीय देवता है। हम बता चुके हैं कि मध्यस्थानीय देवता से अभिप्राय सृष्टि-रचना-क्रम में मध्य में होना है।

वैसे यह अन्तरिक्ष और पृथिवी पर का देवता भी है। यह शक्तिरूप है

और परमात्मा के तेज, प्रथम-स्थानीय देवता का परिवर्तित रूप ही है।

(३)

वायु

इस विषय में एक मन्त्र है—

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः।
तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥ —ऋ० १-२-१

अर्थात्—हे वायु! जो ये दर्शनीय अर्थात् इन्द्रियों से जानने योग्य पदार्थ हैं उनको सुन्दर बनाओ और उनकी रक्षा करो।

हम यह बता चुके हैं कि वायु मध्य-स्थानीय देवता है। यह भी अग्नि के समान सृष्टि-रचना-क्रम में मध्य में उत्पन्न हुआ था। यह वह शक्ति है जिससे व्यक्त पदार्थों के स्वरूप बनते हैं। पंच महाभूतों के सूक्ष्म रूप को स्थूल रूप देनेवाला यही है। इसीलिए इसे वस्तुओं को स्वरूप देनेवाली और सबको सुख-सुविधा देनेवाली शक्ति कहा है।

वायु अहंकारों से बाद में और पंच महाभूतों से पहले उत्पन्न होता है। वास्तव में पंच महाभूतों के अणु बनते ही वायु के प्रभाव से हैं। वायु गति उत्पन्न करनेवाली शक्ति भी है। जब तैजस अहंकार वैकारिक और भूतादि अहंकारों के चारों ओर चक्कर काटने लगते हैं, तब परिमण्डल बनता है, जो पंच महाभूतों की इकाई कहा जा सकता है। परिमण्डल भी परस्पर दो प्रकार से संयुक्त होते हैं—एक रासायनिक रूप में और दूसरे सशरीर। ये संयोग भी वायु के कारण ही होते हैं।

(४)

इन्द्र

इन्द्र का अर्थ समझाने के लिए यास्क अपने निरुक्त में दो मन्त्र उद्धृत करता है। वे मन्त्र इस प्रकार हैं—

अदर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान्बद्धधानां अरम्णाः।
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद् वः सृजो वि धारा अव दानवं हन्॥
—ऋ० ५-३२-१

अर्थात्—हे महान् इन्द्र ! तूने मेघों को फाड़ा और महान् जलराशि का सृजन किया, छिद्रों को खोलकर। उदक से भरे हुए (मेघों को) बँधे हुओं को बहाया। तूने पर्वत-समान मेघों को खोला और जलधाराओं का सृजन किया और मेघ दानव को मार गिराया।

अभिप्राय यह है कि इन्द्र वह विद्युत् है जो मेघों में चमकती है और उन से वर्षा करती है। बादल आते हैं और बरसते नहीं, परन्तु जब बिजली चमकती है और बादलों को फाड़-फाड़कर जल प्रवाहित करती है तो भूमि जल-थल एक हो जाती है। इन्द्र बादलों की विद्युत् का नाम है।

एक अन्य मन्त्र है—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्य्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥

—ऋ० २-१२-१

अर्थात्—जो पैदा होते ही मुख्य हुआ। वह मेधावी देव अपने कर्म से दूसरे देवताओं से बहुत ऊपर हुआ। जिसके बल से द्यावा, पृथिवी काँपते हैं, उस महान् बलशाली को जाना, इन्द्र है।

यहाँ भी अन्तरिक्ष में चमकनेवाले को इन्द्र कहा है। वह उपकारी कार्य करता है और विनाशकारी कार्य भी करता है।

(५)

त्वष्टा

इस शब्द के अर्थ यास्क इस मन्त्र से स्पष्ट करता है—

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान।
इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥

—ऋ० ३-५५-१९

अर्थात्—सर्वरूप, उत्पादक देव त्वष्टा ने प्रजाओं को बहुत प्रकार से उत्पन्न किया और पुष्ट किया। सब भूत और भुवन अर्थात् उदक और देवों में इसका असुरत्व अर्थात् सामर्थ्य बनानेवाला वह एकमात्र है।

यास्क ने भुवनानि का अर्थ उदक किया है। इससे उसका अभिप्राय अपाः से है। अपाः अहंकारों को कहा है। अहंकारों से ही संसार के सब पदार्थ बने हैं। असुः प्राणों को कहते हैं और ये सामर्थ्य के सूचक हैं।

त्वष्टा और सविता पर्यायवाचक कहे गये हैं। सविता सूर्य को भी कहते हैं। सविता अथवा त्वष्टा उस समय के सूर्य अथवा ज्योतिर्मय पदार्थों को कहा है जिस समय इसकी किरणों में अहंकारों को परिमण्डलों में अदला-बदली करने की सामर्थ्य थी। वैसे तो सूर्य-रश्मियों में यह सामर्थ्य अभी भी इस सीमा तक देखी जाती है। पृथिवी के वायुमण्डल से ऊपर सूर्य की सामर्थ्य से पदार्थों में हेर-फेर हो रही है।

(६)

सविता

यास्क कहता है—सविता सर्वस्य प्रसविता। अर्थात् सबको उत्पन्न करनेवाला सविता है।

इसके विषय में एक मन्त्र है—

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत्।
अश्वमिवाधुक्षद्धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम्॥

—ऋ० १०-१४९-१

मन्त्रार्थ है—सविता ने यन्त्रों से पृथिवी को थामा हुआ है। आश्रय-रहित (स्थान में) सविता ने द्यौ (सूर्य) को दृढ़ किया हुआ है। जैसे घोड़े को झाड़ा जाता है, अचल में अन्तरिक्ष को सविता ने धुन डाला।

इस मन्त्र से यह प्रतीत होता है कि सविता के अर्थ आदित्य के अतिरिक्त भी हैं। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि जिसने हिरण्यगर्भ में अग्नि (गरमी) उत्पन्न की थी, वह सविता था।

यास्क ने भी कहा है—

तथा च हैरण्यस्तूपेतुतः। अर्चन् हिरण्यस्तूप ऋषिरिदं सूक्तं प्रोवाच। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति। —निरुक्त १०-३२

अर्थात्—वैसे यह (सविता) हिरण्यस्तूप (सूक्त) में स्तुति किया गया है। उस सूक्त में कहा है कि इस (सविता) को कहनेवाली यह ऋचा है।

इस मन्त्र में दो शब्द विशेष आये हैं। एक है 'अश्वम् इव अधुक्षत्', अर्थात् जैसे घोड़े को झाड़ा जाता है और दूसरे में कहा है, 'अन्तरिक्षम् अतूर्ते', अर्थात् जैसे रूई धुनकनेवाला रूई को धुनकता है वैसे ही अन्तरिक्ष को धुनक दिया गया। यह सब घटना हिरण्यगर्भ के काल की है। उसमें एक सम्वत्सर

तक ताप में पककर तैयार हो गया तो सूर्य और अन्य नक्षत्र ऐसे दूर-दूर कर दिये गये जैसे घोड़ा अपने ऊपर की मट्टी झाड़ देता है, अथवा जैसे धुनिया धुनकी से रूई धुनक देता है ।

हिरण्यस्तूप सूक्त में सविता का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाऽऽङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन्।
एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम्॥

—ऋ० १०-१४९-५

अर्थात्—जैसे हिरण्यस्तूप (हिरण्यगर्भ) के अंग-अंग में सविता रस अर्थात् बल पैदा करता है और इस अश्व (रचना करनेवाले) में, जैसे तेरे में आहुति देता है, वैसे ही तेरी पूजा करता हुआ मैं जागता हूँ ।

वेद में सविता सृष्टि-रचना का एक आवश्यक अंग समझा जाता है। कुछ लोग इसको पाँच भौतिक आकाश कहते हैं। आकाश से ही अन्य भूत बनते हैं ।

इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सविता हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करनेवाला उसका अंग होता है। कभी वह ही किसी मण्डल भी सूर्य बन सकता है । उस अवस्था में सूर्य और सविता पर्याय हो जाते हैं ।

(७)

प्रजापति

यास्क कहता है—

प्रजापतिः प्रजानां पाता पालयिता वा। —निरुक्त १०-४२

अर्थात्—प्रजापति का अर्थ है प्रजा का उत्पादक और पालक। परमात्मा अपने कार्य के लिए प्रकृति के सहाय की आकांक्षा रखता है। जिसकी सहायता से वह ऐसा कर पाता है, वह प्रजापति है ।

इसमें यास्क यह मन्त्र उपस्थित करता है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

—ऋ० १०-१२१-१०

यहाँ प्रजापति का अर्थ परमात्मा किया है, परन्तु शतपथ० ६-१-१-७ में प्रजापति का अर्थ हिरण्यगर्भ भी किया है ।

इन कुछ-एक शब्दों का अर्थ लिखने से हमारा अभिप्राय यह है कि इन शब्दों के यौगिक अर्थ ही लेने चाहिएँ। निघण्टु में शब्दों के पर्याय अर्थात् यौगिक अर्थ दिए हैं।

उदाहरण के रूप में अश्व शब्द ले सकते हैं। निघण्टु में अश्व के पर्याय लिखे हैं। ये छब्बीस हैं और इस प्रकार हैं—

अत्यः, हयः, अर्वा, वाजी, सप्तिः, वह्निः, दधिक्राः, दधिक्रावा, एतग्वः, एतशः, पैद्वः, दौर्गहः, औच्चैश्रवसः, तार्क्ष्यः, आशुः, ब्रध्नः, अरुषः, मांश्चत्वः, अव्यथयः, सुपर्णाः, पतगाः, नरः, ह्वार्याणाम्, हंसात्सः, तुरगः अश्वा। इत्यश्वानाम्।

जो अर्थ जिस स्थान पर उपयुक्त समझ आयें वे अर्थ लेने चाहिएँ। इस पर भी मन्त्रार्थ, मन्त्र के देवता से अटूट सम्बन्ध रखते हैं। मन्त्र के देवता के विपरीत अर्थ नहीं लिये जाने चाहिएँ।

उपसंहार

इस पुस्तक में हमने वेद विषय में प्रवेश पाने के लिए कुछ-एक आवश्यक बातों का ज्ञान कराने का यत्न किया है।

'वेद सत्य विद्याओं का पुस्तक है और इसका पढ़ना-पढ़ाना तथा सुनना-सुनाना सब आर्यों का धर्म है।' आर्यसमाज के इस नियम के अनुरूप ही आर्यजनों को प्रवृत्त करने के लिए हमने इस पुस्तक का विचार किया है और लिखने का यत्न किया है।

हमने प्रमाण एवं तर्क से यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि परमात्मा है और उसे मनुष्यों को ज्ञान देने की आवश्यकता थी। यह ज्ञान मानव-सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों ने परमात्मा से ग्रहण कर मनुष्यों को दिया।

वेद को जैसा हम समझे हैं, उसके अनुसार मानव-सृष्टि जैसी आज है वैसी ही आज से उनतालीस लाख वर्ष पूर्व हुई थी। उस समय पृथिवी ने माता का काम किया था और सूर्य ने पिता का।

यह रचना-कार्य उत्तरी ध्रुव के दक्षिण में किसी सुरक्षित स्थान पर हुआ था। वर्तमान पण्डितों के मस्तिष्क इसको स्वीकार नहीं करते। यह भविष्य के गर्भ में है कि पता चले कि जड़ कैसे चेतनयुक्त हो सकता है? क्या इसके चेतन होने में जीवात्मा और परमात्मा की आवश्यकता है अथवा नहीं? जो कुछ वेद इस विषय में कहता है वह यह है कि जब इस पृथिवी पर शरीर बनाने की सामर्थ्य प्रकृति में आई, तब जीवात्माएँ इस पृथिवी पर ऐसे आईं जैसे वर्षा की बूँदें आती हैं।

यह भी कहा है कि पहले आत्माएँ सूक्ष्म शरीर पाती हैं और उस सूक्ष्म शरीर में रहती हुई वे स्थूल शरीर को पृथिवी पर प्राप्त करती हैं। यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि वे वर्षा की बूँदों में नहीं आतीं, वरन् वे वर्षा की बूँदों की भाँति आती हैं। सूक्ष्म शरीर अवशेषों के बने होते हैं। ये हैं प्रकृति, महत्, अहंकार और तन्मात्र-समूह। स्थूल शरीर बनता है विशेषों का। विशेष हैं इन्द्रियाँ और पंच महाभूत।

प्रकृति, महत् और अहंकार अव्यक्त हैं। परन्तु जब अहंकार गति में आते हैं तब वे व्यक्त अर्थात् इन्द्रियों से अनुभव होने लगते हैं। अतः अहंकार तो अव्यक्त (अदृश्य) हैं, परन्तु इनसे बने परिमण्डल व्यक्त अर्थात् दृश्यमान् हैं। क्योंकि अव्यक्त अहंकार परिमण्डल में गतिशील होते हैं।

अव्यक्त वस्तुएँ विज्ञान का विषय नहीं हैं। विज्ञान से हमारा अभिप्राय आधुनिक विज्ञान ही है। इस विज्ञान में सब निरीक्षण उपकरणों से किये जाते हैं और ये उपकरण सब-के-सब व्यक्त पदार्थों से बने होते हैं। व्यक्त पदार्थों की पहुँच अव्यक्त पदार्थों तक नहीं हो सकती।

इस कारण हमारा यह सुनिश्चित मत है कि जब तक वैज्ञानिक अपने अव्यक्त उपकरण (बुद्धि) का प्रयोग नहीं करते, तब तक वे अव्यक्त पदार्थों का रहस्य नहीं जान सकेंगे। इस अव्यक्त उपकरण (बुद्धि) का कुशल होना अत्यावश्यक है। यह तो व्यक्त उपकरणों के लिए भी आवश्यक है कि वे भी अधिक-से-अधिक कुशल हों। बुद्धि को कुशल करने का उपाय ध्यान और समाधि है। इससे भी अव्यक्त पदार्थों के रहस्य को जाना जा सकता है।

संस्कृत भाषा का ज्ञान तो आवश्यक है ही, साथ ही निरुक्त का ज्ञान भी आवश्यक है। 'निरुक्त' भाषा, ज्ञान, व्याकरण से कुछ और अधिक प्रकट करता है। उस अधिक को जाने बिना वेदार्थ सुलभ नहीं हो सकते।

यह स्मरण रखना चाहिए कि वेद में तो वर्णनात्मक कथन ही है। इसके सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए ऋषियों ने दर्शनशास्त्र कहे हैं। दर्शन-शास्त्र वेद के कथन को तर्क से सिद्ध करने के लिए कहे गये हैं।

वेद तर्कसिद्ध हैं।

प्रमाणानामनुक्रमणिका

*

भाग-2

प्रथम खण्ड

: १ :

उद्देश्य

अपनी पुस्तक 'वेद प्रवेशिका' प्रथम भाग की भूमिका में ही हमने यह स्पष्ट कर दिया था कि वह पुस्तक का प्रथम भाग है। क्योंकि, हमारी यह सुस्पष्ट धारणा थी कि वेदार्थ को समझने के लिए जो कुछ प्रथम भाग में लिखा गया था, वह उद्देश्य-प्राप्ति के लिए मार्गदर्शक के रूप में पर्याप्त नहीं था। तदपि हम समझते हैं कि उसको पढ़कर पाठकों के मन में वेदार्थ समझने की लालसा अवश्य उत्पन्न हुई है। यही हमारा उद्देश्य भी था और हमें उसमें सफलता मिली है, इसकी हमें प्रसन्नता है। इसका एक प्रमाण यह भी है कि पुस्तक का प्रथम संस्करण शीघ्र समाप्त हो गया, अतः द्वितीय संस्करण प्रकाशित करना पड़ा और वह भी लगभग समाप्त है।

जब हमने इसका प्रथम भाग लिखा था, उस समय भी हमारा विचार यही था कि सर्वसाधारण जो वेदार्थ जानने का इच्छुक है, उसको कुछ और भी चाहिए, जिससे वह यह समझ सके कि जिस वेदार्थ को वह पढ़ रहा है, वह दोषरहित है। इतना ज्ञान तो पाठक को होना ही चाहिए कि जिस विषय का वह अध्ययन कर रहा है, वह अशुद्ध अथवा त्रुटियुक्त नहीं है।

प्रख्यात निरुक्ताचार्य यास्क तथा उनके अनुरूप ही अन्यान्य निरुक्ताचार्यों ने भी वेदार्थ को समझने के लिए कतिपय सिद्धान्तों का निर्धारण किया है। पाठक जब उन सिद्धान्तों के आधार पर वेदार्थ का अध्ययन करने लगता है तो उसको कम-से-कम इतना ज्ञान तो हो ही जाता है कि इस अर्थ में कहीं किसी प्रकार की कोई भूल तो नहीं है।

इन सिद्धान्तों का निरूपण नितान्त आवश्यक था। प्रतिपादित सिद्धान्तों का किस प्रकार प्रयोग किया जाना चाहिए, इसका ज्ञान भी पाठक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'वेद प्रवेशिका' का यह द्वितीय भाग लिखने का प्रयास किया गया है।

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम प्रमाण और युक्ति का आश्रय लेंगे।

हम जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना चाहते हैं वे पाँच प्रमुख सिद्धान्त निम्न हैं—

प्रथम सिद्धान्त

यास्क ने अपने ग्रन्थ में लिखा है—

इतीमानि चत्वारि पदजातानि अनुक्रान्तानि।
नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च।
तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च॥

—यास्क १-१२

अर्थ—जब इन चार विभागों अर्थात् नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात की क्रमानुसार व्याख्या हो गई तो इस सम्बन्ध में शाकटायन का मत है कि सब नाम क्रियाओं (धातुओं) से व्युत्पन्न हैं।

यही नैरुक्तों का सिद्धान्त है। गार्ग्य तथा कुछ अन्य वैय्याकरणों का यह मत भी है कि सब नाम ऐसे ही नहीं हैं। कुछ नाम ऐसे भी हैं जिनकी व्युत्पत्ति धातुओं से नहीं होती।

अपने निरुक्त ग्रन्थ में यास्क ने गार्ग्य की आपत्तियों का उत्तर देकर यह मत प्रतिपादित किया है—'नैरुक्तसमयश्च' अर्थात् निरुक्तकारों का यही मत है।

इस आधार पर यह स्पष्ट हुआ कि वेद-भाष्यों की परीक्षा का प्रथम सिद्धान्त यही है कि वेद में जितने भी नामों का उल्लेख है, वे सब धातुओं से व्युत्पन्न हैं। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि वेद में मानव-इतिहास के नामों के होने की सम्भावना किंचित् भी नहीं है। यह तो सम्भव है कि वेद में वर्णित नाम कालान्तर में इतिहास ने भी ग्रहण कर लिये हों, परन्तु यह विशेष ध्यान देने की बात है कि वेदार्थ करते समय वेद और इतिहास के सम्मिलित नामों को इतिहास के आधार पर नहीं, अपितु वेद के आधार पर ही स्वीकार किया जाए।

'बृहद्देवता' के प्रणेता शौनकाचार्य ने भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उनका कथन है—

तत्खल्वाहुः कतिभ्यस्तु कर्मभ्यो नाम जायते।
सत्त्वानां वैदिकानां वा यद्वान्यदिह किंचन॥

—बृ० दे० १-२३

अर्थ—इससे सदा यह कहा जाता है कि कर्म से ही नाम का ज्ञान होता है। वेद का सत्त्व (वास्तविक अर्थ) अथवा जो कुछ भी सम्बन्धित बात है वह इन नामों से ही जानी जाती है।

हम भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करने के उपरान्त वेदाध्ययन करना उपयुक्त मानते हैं। यही युक्तियुक्त है। ऋषि-परम्परा भी यही स्वीकार करती है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ हैं।

जैसाकि आर्यसमाज के तृतीय नियम में कहा गया है कि 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है'—हम इसको पूर्णतया स्वीकार नहीं करते। हमारी दृष्टि में यद्यपि वेद सत्य विद्याओं का पुस्तक है, किन्तु सब सत्य विद्याएँ इसमें विद्यमान हैं, यह आवश्यक नहीं। हम यह भी स्वीकार करते हैं कि इसमें कोई असत्य बात नहीं है। किन्तु 'सब' शब्द के प्रयोग से ऐसा भास होता है कि वेद के अतिरिक्त अन्य कहीं कोई सत्य अब अवशिष्ट ही नहीं रह गया है।

इस सम्बन्ध में हमारा मत है कि परमात्मा असीम है। सृष्टि-रचना का क्षेत्र भी असीम है। परमात्मा की सामर्थ्य भी असीम है। इस दृष्टि से सत्य भी असीम है। परमात्मा की सृष्टि की सीमा के विषय में तो कहा ही जा सकता है—नेति…नेति…नेति…नेति।

पृथिवी पर उत्पन्न मनुष्यों के लाभ के लिए 'वेद' परमात्मा की ओर से प्राप्त ज्ञान है।

ऋग्वेद १०-१३०-४,५,६ में ही यह स्पष्ट उल्लेख है कि वेद-ज्ञान मनुष्यों को प्रदान किया गया है।

इतना तो निर्विवाद है कि वेद इस पृथिवी पर सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। जिस समय वेद-ज्ञान का अवतरण हुआ उस समय मानव केवल मिमियाता ही था। उस समय उस मिमियाने की ध्वनि से जो शब्द बनते थे, ऋषियों ने उनके अर्थ निर्धारित किए। यह कहा जा सकता है कि तब पृथिवी पर पहली भाषा का प्रचलन हुआ। यह भाषा राष्ट्री कहलाई।

उसी राष्ट्री भाषा में वेद की रचना हुई। यह सब उस समय की बात है जब कि मानव-सृष्टि अपने प्रारम्भिक रूप में ही थी। उस समय यह राष्ट्री भाषा बनी, किन्तु उस समय इसके व्याकरण की रचना नहीं हुई थी।

संसार की किसी भी भाषा का व्याकरण उस भाषा के रूप को शत-प्रतिशत उन नियमों में अनुबन्धित नहीं कर पाया। यही कारण है कि प्रत्येक भाषा के व्याकरण में कहीं-न-कहीं, कुछ-न-कुछ अपवाद पाया ही जाता

है। उसका कारण यही है कि भाषा पहले बनती है और उसके व्याकरण की रचना कालान्तर में होती है। तत्कालीन राष्ट्री भाषा की भी यही स्थिति है।

पहले तो ऋषियों ने राष्ट्री भाषा का निर्माण किया और फिर उसके आधार पर वेदों की रचना की। उस समय यद्यपि भाषा का व्याकरण नहीं था, तदपि अर्थ को समझने-समझाने के लिए कुछ मूलभूत नियमों का निर्धारण किया गया। उससे ही कर्म से नाम की बात को स्वीकार किया गया।

पाणिनि का व्याकरण बहुत काल के उपरान्त रचा गया है। उस समय जो बोलचाल की भाषा थी, पाणिनि का व्याकरण उस भाषा का ही व्याकरण है, न कि वेद की भाषा का। यही कारण है कि उसके आधार पर यदि कोई वेद की ऋचा का अर्थ निष्पन्न करे तो यह उसकी भूल होगी।

इस विस्तृत विवेचन से हमारा यही अभिप्राय है कि वेद भाषा के व्याकरण से अर्थ की अपेक्षा निर्वचन अधिक उपयुक्त होते हैं। और उस निर्वचन में नामों को धातुओं से व्युत्पन्न करके ही उनका प्रयोग करना होता है।

उदाहरण के रूप में एक क्रिया है 'गम्'। यह 'गम्लृ' धातु से 'गम्—गतौ' अर्थ वाला शब्द है। गम् से गा और उसके आगे 'औ' प्रत्यय लगाने से 'गौ' शब्द बनता है।

प्रचलित भाषा में 'गौ' शब्द का अर्थ है—चार पाँव, दो सींग और पूँछ वाला पशु। वह पशु जिसका दुग्ध बड़ा गुणकारी और उपकारी माना जाता है तथा भारत एवं उससे बाहर भी रहनेवाले हिन्दू जिसको पवित्र मानते हैं।

किन्तु वेद में 'गौ' शब्द के अर्थ विस्तृत हैं। उसमें सब गतिशील पदार्थों का नाम गौ हो सकता है। पृथिवी को भी गौ कहा गया है। उसका कारण यह है कि पृथिवी भी गतिशील है। सूर्य की रश्मियाँ भी 'गौ' संज्ञा के अन्तर्गत आती हैं। अभिप्राय यह कि कोई भी गतिशील पदार्थ अथवा प्राणी गौ शब्द से अभिहित हो सकता है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि किस स्थान पर किस अर्थ को स्वीकार किया जाए? इसका निर्णय करने के लिए निरुक्ताचार्य ने एक अन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

द्वितीय सिद्धान्त

यास्क-रचित निरुक्त में यह वाक्य उल्लिखित है—

अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढः।
अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः।
न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः।
प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः॥ —यास्क० १३-१२

अर्थ—मन्त्रार्थ चिन्तन करने का विषय है। ऊहापोह विचार करने से प्राप्त किया जाता है। इसे श्रुति के विपरीत नहीं होना चाहिए।

श्रुति के विपरीत का अभिप्राय है कि किसी भी मन्त्र का अर्थ अथवा अभिप्राय ऐसा नहीं होना चहिए जोकि वेद में ही किसी अन्य स्थान पर उल्लिखित मन्त्र अथवा भाव के विपरीत हो अथवा उसका खण्डन करता हो।

जब यह स्वीकार कर लिया जाता है कि वेद-ज्ञान किसी सर्वोत्कृष्ट और सर्वज्ञ तत्त्व द्वारा प्रस्तुत किया हुआ ज्ञान है, तब इस बात की तो स्वप्न में भी कल्पना नहीं की जा सकती कि किसी भी मन्त्र अथवा वाक्य का अर्थ वेद में किसी अन्य स्थान पर उल्लिखित किसी मन्त्र अथवा वाक्य के विपरीत होगा।

उपरिलिखित उदाहरण से ही यह बात स्पष्ट हो जाएगी। 'गौ' शब्द गम् धातु से व्युत्पन्न होने के कारण उसका प्रयोग गतिशील पदार्थों के लिए किया जा सकता है। किसी स्थावर पदार्थ के लिए 'गौ' शब्द का प्रयोग सम्भव नहीं है। यदि कहीं इसके अर्थ स्थावर पदार्थ के रूप में किये जाएँगे तो वह अशुद्ध मान लिया जाएगा। उस स्थान पर उसके जो धातुगत अर्थ होंगे उसको ही स्वीकार करना होगा। इसके साथ ही मन्त्रार्थ भी मन्त्र के देवता के अनुरूप ही होंगे।

तृतीय सिद्धान्त

निरुक्त का जो उद्धरण ऊपर दिया गया है उसके अनुसार 'श्रुतितः' से अगला पद है 'तर्कतः'। इसका अभिप्राय है कि अर्थ तर्कसंगत हो।

तर्क के सम्बन्ध में मध्यकालीन विद्वानों ने बहुत विवाद उत्पन्न कर दिया है। शंकराचार्य प्रभृति विद्वानों ने 'तर्क' की बहुत निन्दा की है।' भर्तृहरि ने तो एक स्थान पर इतना तक लिख दिया है—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥[1]

---

१. उद्धृत : स्वामी करपात्री कृत 'मार्क्सवाद और रामराज्य', गीताप्रेस, सं० २०१४, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ७।

अर्थ—कुशल अनुमाता लोग बड़े प्रयत्न से जिस अर्थ को तर्क से सिद्ध करते हैं, उसी अर्थ को अन्य अनुमाता तार्किक अपने तर्क द्वारा अन्यथा ही सिद्ध कर देते हैं।

स्वामी शंकराचार्य ने भी अपने वेदान्त-भाष्य में कुछ इस प्रकार लिखा है—

इतश्च नागमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम्। यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति···

—ब्रह्मसूत्र २-१-११

अर्थ—इस कारण आगम गम्य अर्थ में वेद-निर्वचन का तर्क से विरोध करना उचित नहीं है, क्योंकि आगम-निरपेक्ष और केवल पुरुष-कल्पनामूलक अर्थ तर्क से प्रतिष्ठित नहीं होते।

तर्क प्रतिष्ठित ही नहीं होता, ऐसा भी नहीं है।

इसी प्रकार कुछ लोग मानते हैं कि स्वामी शंकराचार्य प्रतिष्ठित तर्क तो मानते हैं, परन्तु वेदार्थ करने में तर्क को प्रमाण नहीं मानते।

परन्तु निरुक्ताचार्य का कथन है कि वेदार्थ का विचार तर्क से किया जाना चाहिए। उसका यहाँ यह कथन है कि वेदार्थ तर्क-विरोधी नहीं हो सकते।

चतुर्थ सिद्धान्त

यास्क-रचित निरुक्त के पूर्वलिखित उद्धरण का अगला वाक्य इस प्रकार है—

न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। —यास्क० १३-१२

इसका अर्थ है कि प्रसंग छोड़कर विभिन्न मन्त्रों के पृथक्-पृथक् अर्थ नहीं किये जाने चाहिएँ।

कतिपय तथाकथित विद्वानों को यह भ्रम हो गया है कि क्योंकि मन्त्र ही [illegible] अपितु उसके पद भी विभिन्न ऋषियों की अनुभूति के आधार पर हैं, इस कारण उनके अर्थ भी पृथक्-पृथक् ही होते हैं; मन्त्रों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ इसी बात का खण्डन किया गया है।

पञ्चम सिद्धान्त

निरुक्त ने देवता का उल्लेख पृथक् से किया है। उसमें कहा गया है—

यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति अनुभवति ।।

—यास्क० १३-१३

अर्थ—जिस-जिस देवता का मन्त्र में संकेत हो, उस-उसके अनुसार ही मन्त्र के अर्थ होते हैं।

मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों ने प्रत्येक मन्त्र, मन्त्रांश तथा सूक्त का देवता निर्धारित कर दिया था। ऐसा शौनकाचार्य का मत है।

शौनकाचार्य ने यह भी कहा है कि मन्त्र, मन्त्रांश तथा सूक्त के देवता का अभिप्राय उनमें वर्णित विषय से होता है। अतः मन्त्रार्थ करते समय देवता के अनुरूप ही अर्थ किये जाने चाहिएँ।

यह अशुद्ध है कि मन्त्र का देवता तो हो 'इन्द्र' और मन्त्रार्थ में परमात्मा की अथवा किसी लौकिक राजा की स्तुति की जाय। वेद में स्तुति का अर्थ है पदार्थ के गुण, कर्म, स्वभाव का अध्ययन, कथन अथवा चिन्तन। मन्त्र में इन्द्र शब्द यदि किसी अन्य देवता वाले मन्त्र में आये तो उसका अर्थ उस देवता अर्थात् विषय के अनुरूप किया जाना चाहिए। मन्त्रार्थ तो देवता के अनुरूप ही होना चाहिए।

निरुक्ताचार्यों ने वेदार्थ करने के लिए तर्क को सर्वोपरि स्थान दिया है। यास्क का जो निरुक्त उपलब्ध है, उसमें एक स्थान पर उल्लेख मिलता है—

मनुष्या वा ऋषिषून्क्रामत्सु देवानब्रुवन्।
को न ऋषिर्भविष्यतीति।
तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्। मन्त्रार्थ चिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्।
तस्माद् यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति।

—यास्क० १३-१२

अर्थ—ऋषियों के उठ जाने पर (दूसरे लोकों को चले जाने पर) मनुष्य देवों (विद्वानों) से बोले कि अब कौन ऋषि होगा? कौन मन्त्रार्थ बताएगा? इसके लिए तर्क ही ऋषि (अर्थ बतानेवाला) होगा। मन्त्रार्थ की स्फूर्ति (युक्ति) को देखना चाहिए। इस प्रकार जो कुछ भी खोज करनेवाला मन्त्र का अर्थ करता है वह आर्ष वचन कहता है। उसे ऋषि-दृष्ट तत्त्व ही समझना चाहिए।

एक बात यहाँ पर स्मरण रखनी चाहिए कि तर्क अर्थात् चिन्तन आधार-रहित नहीं होता। आधार का अभिप्राय है युक्ति का किसी प्रत्यक्ष पर टिका होना। सत्य की खोज में दर्शनशास्त्र तो तर्क को प्रमुख मानते हैं। हम समझते हैं कि दर्शनशास्त्रों का पूर्ण आधार तर्क ही है। कपिल मुनि तर्क के

सबसे बड़े समर्थक थे। उन्होंने अपने सांख्य-दर्शन में कहा है—

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानम् अनुमानम्॥

—सां० १-१००

एवं

अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधः धूमादिभि इव वह्नेः॥

—सां० १-६०

अर्थ—प्रत्येक सम्बन्ध को देखनेवाला सदा सम्बन्ध रखनेवाले (की) प्रत्येक वस्तु का ज्ञान अनुमान है।

आँख इत्यादि इन्द्रियों से जो न देखा जा सके, उसका ज्ञान अनुमान से होता है। जैसे धूम्र इत्यादि देखने से अग्नि का ज्ञान हो जाता है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जब कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध का ज्ञान हो जाय तो सम्बन्धित वस्तुओं का ज्ञान अनुमान है।

इसी प्रकार यास्क मुनि का जो निरुक्त उपलब्ध है, उसमें भी तर्क को बहुत महत्त्व दिया गया है।

इस प्रसंग में इतना और बता देना उपयुक्त होगा कि कतिपय विद्वान् यास्क के निरुक्त के तेरहवें अध्याय को प्रक्षिप्त मानते हैं। उनके विचार से यह सम्पूर्ण अध्याय ही यास्क-रचित नहीं है। किन्तु हम समझते हैं कि तेरहवें अध्याय में कम-से-कम उसका वह अंश जो तर्क के विषय में है, पुस्तक का आवश्यक अंग है। यह तो निर्विवाद है कि यास्क-रचित निरुक्त की अपनी वृत्ति में आचार्य दुर्ग ने इस अध्याय को स्वीकार किया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि आचार्य दुर्ग के काल में यह अध्याय यास्क के निरुक्त का भाग ही समझा जाता था।

क्योंकि दर्शनशास्त्रों ने तर्क को प्रमाणों की कोटि में स्वीकार किया है, यही कारण है कि निरुक्त के इस तेरहवें अध्याय को हम उसका ही भाग मानते हैं। हमारी यह सुस्पष्ट धारणा है कि वेदज्ञान तर्कहीन नहीं है।

वेदार्थ करने के लिए ऊपर हमने पाँच सिद्धान्तों का वर्णन किया है। इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त व्याकरण की बात भी है। इस प्रसंग में यह बात भी ध्यान में रखनी होगी कि मनुष्य-सृष्टि के उत्पन्न होने के कुछ ही काल के बाद ऋषियों द्वारा वेदों का प्रणयन हुआ है। ऐसी हमारी मान्यता है। जो आज मानव-भाषा कही जाती है, वह उस समय प्रचलित नहीं थी।

वर्तमान युग के विद्वानों का भी यही मत है कि वेद इस भूमण्डल पर

प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इससे भी यही निष्कर्ष निष्पन्न होता है कि जिस समय वेदों की रचना हुई, उस समय मानव-भाषा इतनी अविकसित थी कि उसमें किसी महान् ज्ञान की बात कह पाना सम्भव नहीं था। इस बात को वेद ने ही स्पष्ट किया है कि ऋषियों ने पहले मनुष्यों को भाषा का ज्ञान कराया। 'वेद प्रवेशिका' के प्रथम भाग में हमने इस विषय को स्पष्ट किया है।

मनुष्य पहले तो अर्थहीन शब्द ही बोलता था। उस समय ऋषियों ने मानव को सार्थक शब्द कहने की रीति सिखाई। वेद में ही इसका उल्लेख है कि इससे मानव-जाति को बड़ी प्रसन्नता हुई।

जब भाषा अर्थयुक्त हो गई तो फिर उसमें वेदों की रचना की गई। इसकी प्रक्रिया भी हम 'वेद प्रवेशिका' के प्रथम भाग में स्पष्ट कर चुके हैं।

यहाँ हम इतना और बताना चाहते हैं कि उस समय व्याकरण की रचना नहीं हुई थी। अतः वेद के अर्थ समझने के लिए निरुक्ताचार्यों के आधार ही एकमात्र सहायक के रूप में उपलब्ध हैं।

यास्क ने व्याकरण और वेदार्थ के विषय में कहा है—

अथ निर्वचनम्। तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्। अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत। केनचिद् वृत्तिसामान्येन। अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षर वर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्॥

—यास्क २-१

अर्थ—अब निर्वचन का विषय आरम्भ किया जा रहा है। जिन पदों में स्वर और आकृति, प्रत्यय के संस्कार वास्तविक पदार्थ बताने में समर्थ हों, तथा व्याकरण द्वारा बताये विकारों से युक्त हों, अर्थात् जिन वेद-वाक्यों के अर्थ व्याकरण के अनुसार करने पर पूर्वापर सम्बन्ध उचित हो, वहाँ उसके अर्थ व्याकरण के अनुसार ही करने चाहिएँ। यही उनका निर्वचन होगा। परन्तु यदि उस प्रकार अर्थ असंगत होने लगें तो प्रसंग को ध्यान में रखकर और धातु के सम्बन्ध तथा पूर्वापर का विचार करके निर्वचन किया जाय। धातु से पूर्ण समन्वय न होने पर अक्षरमात्र तथा वर्णमात्र की समानता होने पर ही निर्वचन करे। निर्वचन करते हुए व्याकरण का ध्यान न रखे। अर्थ करते समय प्रसंग का ध्यान करते हुए विभक्ति इत्यादि का भी विचार न करे।

दुर्गाचार्य का कथन है कि निर्वचन वेद में ही करे, व्याकरण के अनुकूल

हों अथवा व्याकरण का उल्लंघन करते हुए हों।

पुस्तक के इस भाग के लेखन में हमारा मुख्य उद्देश्य ही यह है कि हम पाठकों को स्पष्ट करें कि उपरिवर्णित आधारों को ध्यान में रखते हुए वेदार्थ में निर्वचन किस प्रकार किया जाता है।

: २ :

परीक्षा

पिछले अध्याय में हमने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, इस अध्याय में हम उनका परीक्षण कर रहे हैं।

वेदार्थ करने का प्रथम सिद्धान्त हमने यह बताया है कि वेद में प्रयुक्त सब नाम आख्यातों (क्रियाओं) से बनते हैं। इसका यह अभिप्राय है कि उन सबकी व्युत्पत्ति किसी-न-किसी क्रिया से होती है।

यास्क ने अपने ग्रन्थ में अन्तरिक्ष की व्याख्या करते हुए लिखा है—

तत्रेतिहासमाचक्षते देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः। स शन्तनुः कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे। देवापिस्तपः प्रतिपेदे। ततः शन्तनो राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष। तमूचुर्ब्राह्मणाः। अधर्मस्त्वया चरितः। ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितम्। तस्मात्ते देवो न वर्षतीति। स शन्तनुर्देवापिं शिशिक्ष राज्येन। तमुवाच देवापिः। पुरोहितस्तेऽसानि। याजयानि च त्वेति। तस्येदतद्वर्षकामसूक्तम्। तस्यैषा भवति॥

—यास्क० २-१०

अर्थ—इस विषय में एक इतिहास का उल्लेख करते हैं। ऋष्टिषेण के पुत्र देवापि तथा शन्तनु कौरव-कुल के भाई थे। शन्तनु जो छोटा था, उसने अपना राज्याभिषेक कर लिया। देवापि, जो बड़ा था, वह तप करने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि बारह वर्ष तक शन्तनु के राज्य में देव-वर्षा नहीं हुई। तब ब्राह्मणों ने उससे कहा—तुमने अधर्म किया है। ज्येष्ठ भाई के अधिकार का उल्लंघन कर अपना राज्याभिषेक करा लिया है। इस कारण तेरे राज्य में देव नहीं बरसता है। उस शन्तनु ने देवापि को राज्य वापस देना चाहा तो देवापि ने कहा—मैं राज्य नहीं लूँगा। यज्ञ कराऊँगा। उसका यह वर्षा सूक्त है। उसमें यह ऋक् है।

अपने कथन की पुष्टि में यास्क ने जिस मन्त्र का उल्लेख किया है, वह है—

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि॥

—ऋ० १०-९८-५

यास्क ने इस मन्त्र को निघण्टु में अन्तरिक्ष की कण्डिका में आये समुद्र का अर्थ समझाने के लिए उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया है। जहाँ तक समुद्र के अर्थ समझाने का सम्बन्ध है, यास्क का कथन ठीक है कि इस मन्त्र में समुद्र अन्तरिक्ष के अर्थ वाला है।

तदपि अर्थ करते समय समुद्र का अर्थ समुद्र ही बना है और उसके साथ ही मन्त्रार्थ करने में नामों के अर्थ धातुओं से न करके यास्क ने उनके रूढ़ि अर्थ किये हैं।

यास्क ने इसका अर्थ इस प्रकार इस कारण किया होगा क्योंकि वह इस मन्त्र को किसी ऐतिहासिक घटना से सम्बन्धित मानता है। यही कारण है कि उसने उक्त कण्डिका के आरम्भ में ही कहा है—इस विषय में एक इतिहास का उल्लेख करते हैं। इस इतिहास का उल्लेख करने के लिए ही यास्क ने जिस सिद्धान्त का स्वयं प्रतिपादन किया था, मन्त्रार्थ करने में उसका उल्लंघन कर दिया है।

वेद में इतिहास है और उसमें इतिहास को ढूँढ़ना चाहिए अथवा कि नहीं? यह सर्वथा पृथक् प्रश्न है। इसे हम आगे चलकर यथास्थान स्पष्ट करेंगे। इस समय तो हम यास्क द्वारा इस सिद्धान्त का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं कि वेद में सब नाम आख्यातज हैं अथवा कि नहीं। यास्क ने तो स्वयं ही सिद्धान्त प्रतिपादित किया और अपने निरुक्त ग्रन्थ में गार्ग्य आदि वैय्याकरणों की आपत्तियों का उत्तर देते हुए यह सिद्ध किया था कि वेद में सब नाम क्रियाओं से व्युत्पन्न हैं। किन्तु फिर स्वयं ही शन्तनु, देवापि तथा आर्ष्टिषेण शब्दों का रूढ़ि अर्थ कर दिया। हमारी दृष्टि में यह यास्क की भूल है।

इस मन्त्र में आये शब्दों का अर्थ यास्क इस प्रकार करता है—

आर्ष्टिषेणः ऋष्टिषेणस्य पुत्रः। इषितसेनस्येति वा। सेना सेश्वरा। समानगतिर्वा। पुत्रः पुरु त्रायते। निपरणाद्वा। पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा। होत्रमृषिर्निषीदन्। ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः॥ —या० २-११

अर्थ—आर्ष्टिषेण ऋष्टिषेण का पुत्र है; इषितसेन अर्थात् आगे बढ़ती हुई सेनावाले का पुत्र अथवा सेना; स + इना अर्थात् साथ स्वामी (सेनापति)

वाली (समान गति वाली।)

पुत्रः—बहुत रक्षा करता है। देने से अथवा। पुं—नरक। उससे रक्षा करता है।

होत्रम्—होता का कर्म करने के लिए, ऋषि-दर्शन से है।

स्तोमो—मन्त्रों को उसने देखा है, ऐसा औपमन्यव कहता है।

यास्क आगे कहता है—

देवापिर्देवानामाप्त्या स्तुत्या च प्रदानेन च। देव सुमतिं देवानां कल्याणीं मतिं चिकित्वाँश्चेतनवान्। स उत्तरस्मादधरं समुद्रम्। उत्तर उद्धततरो भवति। अधरोऽधोरः। अधो न धावतीत्यूर्ध्वगतिः प्रतिषिद्धा। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥ —या० २-११

अर्थ—देवापि वह जो जानता था कि देवों की सुमति (शुभ कामना) प्राप्त की जा सकती है (जो जानता है कि देवताओं की स्तुति किस प्रकार की जा सकती है) वह ऊपर के समुद्र से नीचे की ओर दौड़ता नहीं। इस शब्द से उसकी ऊर्ध्व गति का निषेध किया है।

मन्त्र का अर्थ करने में भूल यह हुई कि न तो मन्त्र के देवता का ध्यान किया गया है और न ही शब्दार्थ करने में ऊपर वर्णित सिद्धान्तों का विचार किया गया है।

इस मन्त्र का देवता है—देवाः। यह शब्द बहुवचनान्त है। वर्षा का देवता एकवचनान्त है। अतः भाष्यकार को चाहिए था कि वह प्रथम 'देवाः' का अर्थ जानने का यत्न करता और फिर उसके अनुरूप मन्त्रार्थ करने चाहिए थे। मन्त्र अथवा सूक्त का देवता उस मन्त्र अथवा सूक्त का विषय होता है। मन्त्रार्थ विषय के अनुरूप होना चाहिए था।

सांख्यदर्शन में पदार्थ के चौबीस गणों की गणना की गई है। उनमें से एक गण अहंकारों का भी है। अहंकारों को वेद में आपः कहा है (देखिये ऋ० १-१६३-३,४)। आपः को देवता कहा है और यह तीन का एक गण है। ये असाम्यावस्था में परमाणुओं के निबन्धन हैं। आपः देवों के गण के विषय में यह सूक्त है।

आपः तो सामूहिक गण का नाम है। इन तीन का पृथक्-पृथक् नाम भी है। ये हैं मित्र, वरुण और अर्यमा। अर्यमा का दूसरा नाम सोम भी है। इसका वर्णन ऋ० १-१६३-२,३,४ में किया गया है।

इन आपः अर्थात् मित्र, वरुण और सोम का वर्णन इस सूक्त में है।

अतः मन्त्रार्थ उनके अनुरूप ही होने चाहिए थे।

हम इस मन्त्र का और फिर इस पूर्ण सूक्त का अर्थ इनका देवता अर्थात् इन मन्त्रों का विषय आपः मानकर ही कर रहे हैं। निरुक्त के सिद्धान्तों के अनुसार मन्त्र में आये नामों का अर्थ इस प्रकार है—

देवापि का अर्थ है देव अर्थात् परमात्मा का साथी। ऋ० १-१६४-१ में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति को भाई-भाई कहा है। भाई और साथी में अन्तर नहीं है। अतः हमारा यह मत है कि यहाँ देवापि का अर्थ परमात्मा का साथी अर्थात् प्रकृति है। प्रकृति भी परमात्मा की भाँति अनादि है, इस कारण यह परमात्मा का साथी है।

आर्ष्टिषेण का अर्थ है—आ—ऋष्टि—षेण। आ तो मन्त्र में कहीं दूसरे स्थान पर अर्थ देता है। ऋष्टि का अर्थ है—तलवार, भाला, तीर इत्यादि। षेण का अर्थ है स + इना अर्थात् स्वामी-सहित शस्त्रास्त्र।

होत्रम् का अर्थ है—यज्ञकर्म अथवा यज्ञ में प्रयुक्त होनेवाली सामग्री अथवा साधन। यहाँ पर साधन अर्थ ही समीचीन है।

समुद्र का अर्थ अन्तरिक्ष है।

इन अर्थों के साथ ऋ० १०-९८-५ का अर्थ इस प्रकार होगा—

अन्वय—देवापिः ऋष्टिषेणः ऋषिः चिकित्वान् देव सुमतिं होत्रम् आ निषीदन्।

अर्थ—परमात्मा का साथी प्रकृति (भालों का स्वामी) सजग हुआ ऋषि असाम्यावस्था में परमाणु (देवताओं) का कल्याण करने के लिए चारों ओर से हवि लाकर स्थित करता है।

ऋषि का अर्थ हमने साम्यावस्था में परमाणु किया है। (देखिए शतपथ ब्राह्मण ६-१-१-१,२)।

इन्द्र प्रकृति में छिपा हुआ बैठा होता है। वही प्रकृति का शस्त्रास्त्र है।

दूसरी पंक्ति का अर्थ इस प्रकार है—

अन्वय—सः उत्तरस्मात् अधरम् समुद्रम् अभि वर्ष्या दिव्याः आपः असृजत्।

अर्थ—वह (परमाणु) ऊपर से नीचे अन्तरिक्ष को बरसने के योग्य दिव्य आपः बन गये।

यहाँ असृजत् में वाच्य विपर्यय किया गया है।

इस मन्त्र में तो केवल यह बताया गया है कि प्रकृति के परमाणु सजग

होकर ऊपर से अन्तरिक्ष में गिरे तो दिव्य आपः बन गये। मन्त्र की प्रथम पंक्ति में यह कहा गया था कि प्रकृति जो अपने शस्त्रास्त्र अपने साथ रखती थी, वह अपने परमाणुओं की सृष्टि-रचना-यज्ञ में आहुति देने के लिए तैयार हो गई।

ऊपर से नीचे अन्तरिक्ष में गिरे का अर्थ है कि द्यु लोक से अन्तरिक्ष में आते हुए परमाणुओं के आपः बन गये। वे आपः किस प्रकार बने, इसका वर्णन ऋ० १-१६३-२,३,४ में किया गया है।

अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए यास्क ऋ० १०-९८-७ उद्धृत करता है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत्॥

—ऋ० १०-९८-७

इस मन्त्र का अर्थ करने में भी यास्क ने वही भूल की है जोकि उसने मन्त्र-संख्या ५ का अर्थ करने में की थी। उसने शब्दों के रूढ़ि अर्थ किये हैं, धातुओं से उनकी व्युत्पत्ति को ध्यान में नहीं रखा।

इस मन्त्र में बृहस्पति का अर्थ है—ज्ञानस्वरूप परमात्मा। शन्तनवे का अर्थ है शान्त स्वभाववाले। आपः में शान्त स्वभाव से अभिप्राय है अर्यमा अर्थात् सोम का।

मन्त्रार्थ इस प्रकार होगा—

अन्वय—यद् देवापिः पुरोहितः वृतः शन्तनवे होत्राय कृपयन् अदीधेत्। बृहस्पतिः रराणः वृष्टिवनिं देवश्रुतं वाचं अस्मै अयच्छत्॥

अर्थ—जब देवापि (प्रकृति) पहले ही स्थिर वरण (प्राण द्वारा अधिकार की हुई) यज्ञ करनेवाले (शान्त स्वभाववाले के लिए) सोम आपः के लिए कृपापूर्वक ध्यान देती है, उनके लिए कर्म करने का विचार करती है।

ज्ञानस्वरूप परमात्मा नाद करते हुए देवताओं को सुनाने के योग्य दृष्टि करनेवाला वेदवाक्य हमें देता है।

इस मन्त्र में कहा गया है कि प्रकृति जब रचना-कार्य के लिए तैयार होती है तो शान्त-स्वभाव सोमों के लिए कृपापूर्वक कर्म करने का विचार करती है। तब ज्ञानस्वरूप परमात्मा नाद करते हुए देवताओं द्वारा सुने जाने योग्य वृष्टि की भाँति वेदवाक्य हमारे लिए देता है।

इस मन्त्र के जो अर्थ यास्क ने किये हैं और जो अर्थ हमने किये हैं

उनमें इस कारण परस्पर भेद हुआ कि यास्क ने मन्त्र में आये नामों को ऐतिहासिक नाम मान लिया। ऐतिहासिक पुरुषों के नाम तो उनके माता-पिता द्वारा रखे हुए होते हैं। जिस समय किसी भी व्यक्ति का नामकरण किया जाता है वह उस समय शिशुमात्र होता है। उसमें उस समय कोई गुण दिखाई देता ही नहीं। यथा—देवापि के छोटे भाई का नामकरण करते समय वह शस्त्रास्त्रों का स्वामी नहीं था। इससे यह स्पष्ट है कि उस समय रखा हुआ नाम व्यक्ति के गुण से किसी प्रकार भी सम्बन्धित नहीं होता। वेद में ऐसे नामों का प्रचलन नहीं है।

वेदार्थ करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि अर्थ में पूर्वापर संगति मिलनी चाहिए। सायणाचार्य ने यास्क के अनुरूप अर्थ करते हुए संगति मिलाने का यत्न किया है, किन्तु उसके अर्थ मन्त्र के देवता के अनुरूप नहीं हैं।

हमने जो अर्थ किये हैं संगति तो उनकी भी मिलती है। आगे हम पूरे सूक्त का अर्थ करते हुए इसको सिद्ध करने का यत्न करेंगे। हमारे द्वारा किये गये अर्थ जहाँ मन्त्र के देवता के अनुरूप हैं वहाँ उसके शब्दों के अर्थ भी यौगिक हैं, अर्थात् उनकी व्युत्पत्ति धातुओं के आधार पर है।

व्याख्याकार को चाहिए कि वह इन सब बातों को दृष्टि में रखकर ही वेदमन्त्र के अर्थ करे।

इस सूक्त का प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

बृहस्पते प्रति मे देवतामिहि मित्रो वा यद्वरुणो वासि पूषा।
आदित्यैर्वा यद्वसुभिर्मरुत्वान्त्स पर्जन्यं शन्तनवे वृषाय॥

—ऋ०- १०-९८-१

अन्वय—बृहस्पते मे देवताम् प्रति इहि यत् मित्रः वा वरुणः वा पूषा असि। यत्सः आदित्यैः वसुभिः वा मरुत्वान् शन्तनवे पर्जन्यम् वृषाय॥

अर्थ—हे बृहस्पते! ज्ञानस्वरूप परमात्मा! मेरे देवताओं की ओर आओ, जो मित्र अथवा वरुण अथवा पुष्टिकारक (सोम) हैं। जो वह (परमात्मा) आदित्यों, वसुओं और मरुतों के द्वारा लोकरक्षा की वर्षा करता है।

इस मन्त्र में बृहस्पति ज्ञानस्वरूप परमात्मा के लिए आया है। हमने पर्जन्य का अर्थ लोकरक्षक किया है। हम यहाँ पर इसका अर्थ मेघ नही करते। उसका कारण यह है कि यहाँ मित्र, वरुण और सोम के विषय में कहा गया है। मन्त्र के देवता भी यही हैं। मेघ का इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं

है। इसके अतिरिक्त पर्जन्य का मेघ अर्थ रूढ़ि अर्थ है। यौगिक अर्थ तो उत्पन्न हुए का पालन करनेवाला ही बनता है। मित्र, वरुण और सोम पालन करनेवाले ही हैं। शन्तनवे का अर्थ है शान्त स्वभाववाले के लिए, अर्थात् सोम के लिए।

आदित्य यहाँ पर बहुवचन में है, अतः भाष्यकारों ने इसका अर्थ बारह मास किया है। हमारी दृष्टि में यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि बारह मासों का सम्बन्ध मित्र, वरुण और सोम से नहीं है। अतः हमारी दृष्टि में आदित्य का अभिप्राय सूर्य ही है।

आकाशगंगा में एक से अधिक सूर्यों की विद्यमानता है। यहाँ पर वेद का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि सब सूर्यों से मित्र, वरुण और सोम आपः की धाराएँ बहती हैं।

सूक्त का दूसरा मन्त्र है—

आ देवो दूतो अजिरश्चिकित्वान्त्वद्देवापे अभि मामगच्छत्।
प्रतीचीनः प्रति मामा ववृत्स्व दधामि ते द्युमतीं वाचमासन्॥

—ऋ० १०-९८-२

अन्वय—देवापे! त्वत् देवः अजिरः चिकित्वान् माम् अभि आ अगच्छत्। प्रतीचीनः प्रति आ ववृत्स्व ते द्युमतीम् वाचम् आ दधामि आसन्॥

अर्थ—हे देवापि (प्रकृति)! तुमसे देव गतिशील दूत ज्ञानवान् होकर मुझको चारों ओर से प्राप्त होओ। अभिमुख हुआ चारों ओर से मेरी ओर लौटे। तेरे लिए बुद्धियुक्त वाणी मुख में धारण करता हूँ।

ऋग्वेद के मन्त्र १-१६३-४ में कहा गया है कि वरुण परमात्मा के लिए छन्दों का उच्चारण करता है। यहाँ बताया है कि उच्चारण करनेवाला वरुण नहीं है, वरन् ज्ञानस्वरूप परमात्मा है। वह आपः के द्वारा यह कल्याणकारी कार्य करता है।

देवापि का अर्थ हम ऊपर समझा चुके हैं। प्रकृति को परमात्मा का साथी इस कारण कहा जाता है क्योंकि दोनों अनादिकाल से हैं और अनन्तकाल तक रहनेवाले हैं।

मन्त्र में कहा गया है कि परमाणु ज्ञानवान् होकर सामने आता है। इसका अभिप्राय यह है कि परमाणु असाम्यावस्था में होकर जब परमात्मा की शक्ति के सामने आते हैं तो उसकी वाणी वेदमन्त्र-छन्दों में कहने लगते हैं।

यह परमात्मा की शक्ति है जो वेदमन्त्रों का उच्चारण कराती है।

यहाँ छन्दों से अभिप्राय कविता की व्यवस्था नहीं, अपितु शक्ति की तरंगें हैं। वेद में कहा गया है कि ये तरंगें (आपः और उनसे निर्मित हुए देवताओं से वेद के छन्द) प्रसारित होने लगते हैं।

सूक्त का अगला मन्त्र है—

अस्मे धेहि द्युमतीं वाचमासन्बृहस्पते अनमीवामिषिराम्।
यया वृष्टिं शन्तनवे वनाव दिवो द्रप्सो मधुमां आ विवेश॥

—ऋ० १०-९८-३

अन्वय—बृहस्पते! अस्मे द्युमतीं वाचम् आसन् धेहि अनमीवां इषिरां। यया शन्तनवे वनाव वृष्टिम् दिवः द्रप्सः मधुमान् आ विवेश॥

अर्थ—हे बृहस्पते (ज्ञानस्वरूप परमात्मा)! हमारे लिए ओजस्वी वाणी को मुख में धारण कराओ, जो दोषरहित और गमनशील है, जिससे शान्त-स्वभाव (सोम आपः) की वर्षा करता है, जो अन्तरिक्ष में कल्याणकारी बूँदों (छोटे-छोटे टुकड़ों) में चारों ओर से व्याप्त हो जाते हैं॥

इस मन्त्र में विशेष शब्द 'द्रप्सः' है। इसके शब्दार्थ हैं बूँदें। क्योंकि आपः का वर्णन हो रहा है, इस कारण शान्त-स्वभाव की बूँदों का अर्थ बनेगा सोम—आपः के बड़े-बड़े संयोग।

मन्त्र में कहा है कि जब वरुण और मित्र वाणी का उच्चारण कर रहे होते हैं, तब सोम (आपः के संयोग) अन्तरिक्ष में फैल जाते हैं।

सूक्त का अगला मन्त्र है—

आ नो द्रप्सा मधुमन्तो विशन्त्विन्द्र देह्यधिरथं सहस्रम्।
नि षीद होत्रमृतुथा यजस्व देवान्देवापे हविषा सपर्य॥

—ऋ० १०-९८-४

अन्वय—नः द्रप्सा मधुमन्तः आ विशन्तु इन्द्र अधिरथं सहस्रम् देहि। देवापे होत्रम् निषीद, ऋतुथा यजस्व देवान् हविषा सपर्य॥

अर्थ—हमारे लिए कल्याणकारी बूँदें चारों ओर से आकर हम में प्रवेश करें। इन्द्र सहस्रों रथों में आरूढ़ हमको दो। हे देवापि (प्रकृति)! यज्ञ में प्रयुक्त होनेवाली हवि (परमाणुओं) को स्थापित करो। समय-समय पर यज्ञ करो। देवों को (आपः को) हवि से सेवन करो।

हवि में ऊपर बताये सोम के द्रप्साः मानने चाहिएँ। प्रकृति समय-समय पर उनके निर्माण के लिए परमाणु देती रहे और उनसे यज्ञ की वृद्धि होती

रहे।

यज्ञ था सृष्टि-रचना का कार्य। प्रकृति से यह आकांक्षा की गई है कि वह उसमें निरन्तर परमाणुओं की आहुतियाँ देती रहे, जिससे देवाः बनते रहें और पृथिवी पर प्राणियों का पालन होता रहे।

इस सूक्त के पाँचवें मन्त्र का अर्थ हम ऊपर लिख आये हैं। उससे अगला मन्त्र है—

अस्मिन्त्समुद्रे अध्युत्तरस्मिन्नापो देवेभिर्निवृता अतिष्ठन्।
ता अद्रवन्नार्ष्टिषेणेन सृष्टा देवापिना प्रेषिता मृक्षिणीषु॥

—ऋ० १०-९८-६

अन्वय—अस्मिन् समुद्रे अधि उत्तरस्मिन् आपः देवेभिः निवृताः अतिष्ठन्। ताः ऋष्टिषेणेन देवापिना सृष्टाः प्रेषिताः मृक्षिणीषु अद्रवन्।

अर्थ—इस अन्तरिक्ष में ऊपर से नीचे को आपः दिव्य शक्तियों से युक्त हुए ठहरते हैं (बन जाते है)। ये शस्त्रों को स्वामिनी प्रकृति से रचित फेंके जाते हुए उपज के योग्य भूमियों में बह जाते हैं।

आपः जो प्रकृति की असाम्यावस्था में परमाणुओं से बने निबन्धन थे, वे अपने बनने के स्थान से ऊपर को बह चले थे, जिधर उपजाऊ भूमियाँ थीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि यास्क इत्यादि भाष्यकारों ने यह जानने का यत्न नहीं किया कि वेद में आपः का क्या अर्थ है।

यास्क और अन्य भाष्यकार आपः का अर्थ जल करते हैं। बोलचाल की भाषा में इस शब्द का कुछ भी अर्थ रहा हो, परन्तु वैदिक भाषा में आपः को देवता माना है और देवताओं के अर्थ वेदमन्त्रों से ही विदित होते हैं। मन्त्र १ से ४ तक में हम आपः के अर्थ भली-भाँति समझा चुके हैं। किन्तु यास्क इत्यादि भाष्यकारों ने यह जानने का यत्न ही नहीं किया कि वेद में आपः का क्या अभिप्राय है। आपः शब्द स्त्रीलिंग में है। यह सदा बहुवचनान्त ही प्रयुक्त किया गया है।

इस सूक्त में सातवें मन्त्र का अर्थ भी हम ऊपर कर चुके हैं।

आठवाँ मन्त्र है—

यं त्वा देवापिः शुशुचानो अग्न आर्ष्टिषेणो मनुष्यः समीधे।
विश्वेभिर्देवैरनुमद्यमानः प्र पर्जन्यमीरया वृष्टिमन्तम्॥

—ऋ० १०-९८-८

अन्वय—अग्ने यम् त्वा ऋष्टिषेणः देवापिः मनुष्यः शुशुचानः आ समीधे। विश्वेभिः देवैः वृष्टिमन्तं अनुमद्यमानः पर्जन्यं प्रईरय॥

अर्थ—हे अग्ने! जिस तुम्हारे को शस्त्रों का स्वामी देवापि (प्रकृति) चारों ओर से समिधाओं से प्रदीप्त करता है; सम्पूर्ण दिव्य शक्तियों के द्वारा वर्षा करने के सामर्थ्यवाले को उत्पन्न हुओं का कल्याण करनेवाले को प्रेरित करता है।

समीधे का अर्थ है अग्नि प्रदीप्त करने की शक्तिवाला। वृष्टि केवल जल की ही नहीं होती। कोई भी वस्तु जल की भाँति बहुत मात्रा अथवा संख्या में ऊपर से नीचे को गिरे तो वह बरसती कही जाती है।

अतः, इस मन्त्र में कहा है कि प्रकृति से बने आप; पृथिवी की ओर ऐसे गिरते हैं, जैसे वर्षा की बूँदें गिरती हैं। पर्जन्य का अर्थ है उत्पन्न वस्तुओं का पालन करनेवाला। ये आपः हैं। सूक्त का अगला मन्त्र है—

त्वां पूर्व ऋषयो गीर्भिरायन्त्वामध्वरेषु पुरुहूत विश्वे।
सहस्राण्यधिरथान्यस्मे आ नो यज्ञं रोहिदश्वोप्याहि॥

—ऋ० १०-९८-९

अन्वय—त्वां पूर्वे ऋषयः गीर्भिः पुरुहूत विश्वे अध्वरेषु आयन्। सहस्राणि अधिरथानि अस्मे रोहिदश्व नः यज्ञम् आ याहि॥

अर्थ—'हे अग्ने!' तुमको आरम्भ में ऋषियों ने स्तुतियों के द्वारा (तुम्हारे गुण-कर्म-स्वभाव को जानकर) तुम बहुतों से प्रशंसनीय को समस्त यज्ञों में प्राप्त किया। ऋषि का अर्थ साम्यावस्था में परमाणु भी किया जाता है (देखिये शतपथ ६-१-१-१,२) समस्त यज्ञों का अर्थ है परमाणुओं से परमात्मा की अग्नि द्वारा हो रहा यज्ञ।) सहस्रों रथों पर आरूढ़ (गतिशील) आपः हमारे लिए हवि (शक्तिशाली) रचना-कार्य करनेवाले हमारे यज्ञों में (हमारे कार्यों में) आयें (सहायता करें)।

इस मन्त्र में कहा गया है कि देवता अर्थात् आपः सहस्रों रथों में बैठकर हमारे कार्यों में आवें। यहाँ रथों का अभिप्राय है परिमण्डल (ऐटम)। इसका अभिप्राय यह है कि आपः से परिमण्डल अन्तरिक्ष में ही बनते हैं और वहाँ से वे पृथिवी पर आते हैं। उन परिमण्डलों से ही पृथिवी पर के सब पदार्थ, यहाँ तक कि प्राणियों के शरीर भी बनते हैं।

सूक्त का अगला मन्त्र है—

एतान्यग्ने नवतिर्नव त्वे आहुतान्यधिरथा सहस्रा।
तेभिर्वर्धस्व तन्वः शूर पूर्वीर्दिवो नो वृष्टिमिषितो रिरीह॥

—ऋ० १०-९८-१०

अन्वय—अग्ने नवतिः नव एतानि सहस्रा अधिरथा त्वे आहुतानि। शूर तेभिः पूर्वीः तन्वः वर्धस्व, नः दिवः वृष्टिम् इषितः रिरीह॥

अर्थ—हे अग्ने! ये निन्यानवे सहस्र (अभिप्राय है बहुत अधिक संख्या में) रथों में बैठे हुए तुमको आहुति देते हैं (तुम्हारे कर्म में सहायक होते हैं)। हे शूर! उनसे बहुत-से शरीर विस्तार पावें। हमारे लिए द्युलोक से (आपः की) वर्षा करते हैं।

रथों (परिमण्डलों) में बैठे हुए असंख्य आपः पृथिवी पर वर्षा की भाँति आ रहे हैं और पृथिवी पर शरीरों की पुष्टि कर रहे हैं।

सूक्त का अगला मन्त्र है—

एतान्यग्ने नवतिं सहस्रा सं प्र यच्छ वृष्ण इन्द्राय भागम्।
विद्वान्पथ ऋतुशो देवयानानप्यौलानं दिवि देवेषु धेहि॥

—ऋ० १०-९८-११

अन्वय—अग्ने एतानि नवतिं सहस्रा वृष्णे इन्द्राय भागं सं प्रयच्छ। देवयानान् पथः विद्वान् ऋतुशः औलानं अपि दिवि देवेषु धेहि॥

अर्थ—हे अग्ने! ये निन्यानवे सहस्र (बहुत बड़ी संख्या में) बरसते हुए इन्द्र के भाग को सम्यक् रूप से भली प्रकार दो। देवताओं के भागों में विद्वान् (आपः) ऋतुओं के अनुसार शान्ति फैलाते हुए सूर्य से बहते हुए वेदों में स्थापित होवें।

इस मन्त्र में विद्वान् से भी अभिप्राय आपः ही है। ऋतुओं के अनुसार वे अन्तरिक्ष से पृथिवी पर आते हैं।

सूक्त का अगला मन्त्र इस प्रकार है—

अग्ने बाधस्व वि मृधो वि दुर्गहा पामीवामप रक्षांसि सेध।
अस्मात् समुद्राद् बृहतो दिवो नो ऽपां भूमानमुप नः सृजेह॥

—ऋ० १०-९८-१२

अन्वय—अग्ने वि दुर्गहा वि मृधः वि बाधस्व, अमी वाम् अप रक्षांसि अप सेध। अस्मात् समुद्रात् बृहतः दिवः न अपाम् भूमानं इह नः उप सृज॥

अर्थ—हे अग्ने! विशेष कठिनाई से पार पाने योग्य विशेष नष्ट करने वालों की बाधा डालो (रोगों से रक्षा करते रहो)। इस समुद्र (अन्तरिक्ष) से

सूर्य हमारे लिए आपः को बहुत बड़ी मात्रा में सृजन करे।

अब हम इस पूर्ण सूक्त का अभिप्राय बताते हैं—

इसमें ज्ञानस्वरूप परमात्मा से आकांक्षा की गई है कि वह इस संसार में देवताओं के इस गुण, जिसे आपः कहा गया है, के निर्माण की ओर, शक्तिपुंज मित्र और वरुण की ओर, तथा पुष्टिकारक सोम की ओर ध्यान दे।

तदनन्तर पृथिवी से आशा की गई है कि वह परमात्मा की शक्ति को प्राप्त हो। परमात्मा की शक्ति गतिशील है और वह दूर-दूर तक फैलनेवाली है। जब परमात्मा का प्राण प्रकृति के परमाणु से सम्पर्क में आने पर लौटता है तो ओजस्वी वेदवाणी प्रकट होती है।

तदनन्तर ज्ञानस्वरूप परमात्मा से याचना की गई है कि वह इस ओजस्वी वाणी को स्थिर करे, अर्थात् वह सदा उत्पन्न होती रहे और हमको प्राप्त होती रहे।

इसके साथ ही सोम आपः की वर्षा होती रहे। सोम आपः (ऋ० १-१६३-२,३,४ के अनुसार) मित्र और वरुण का तीसरा साथी है जो आवेशरहित है। सोम आपः मित्र और वरुण के साथ सूर्य-रश्मियों के रूप में पृथिवी पर आते हैं और वनस्पतियों में पहुँचकर प्राणियों के भोजन में पुष्टिकारक तत्त्व भरते हैं।

सोम की बूँदें जिनका निर्माण (ऋ० १-३२ के अनुसार) इन्द्र के वज्र से होता है, पृथिवी पर आती हैं और यहाँ के प्राणियों की भोजन-सामग्री निर्माण करती हैं। प्रकृति जो परमात्मा की साथी है वह अपने परमाणुओं की साम्यावस्था के भंग होने से अपने शस्त्रास्त्र सत्त्व और रजस् शक्तियों को बाहर प्रकट करती है और उस कार्य से ही मित्र और वरुण बनकर कार्य करने लगते हैं। वे ही सोम को रथों अर्थात् परिमण्डलों में लाद-लादकर पृथिवी पर लाते हैं।

परिमण्डल अर्थात् इन्द्र के रथ को लानेवाले हैं मित्र और वरुण।

ये ही परिमण्डल के स्थानान्तरण का भी कारण बनते हैं। स्थानान्तरण का अभिप्राय है—मरुतों से मरुतों को जाना, अर्थात् आना-जाना। सोम तो शान्त भाव से रथ के स्वामी की भाँति एक मरुत से दूसरे मरुत में आता-जाता है। वास्तव में वह ही वस्तु है लाने अर्थात् ले-जाने वाली। वही शरीर-निर्माण में उपादान कारण है।

अगणित संख्या में इन्द्र के रथ अन्तरिक्ष में पृथिवी पर आ रहे हैं। उन

रथों में प्राणियों के शरीर-निर्माण के लिए सोम आ रहे हैं। रथ से अभिप्राय है परिमण्डल (ऐटम)।

पूरे सूक्त का यही अभिप्राय है।

वर्तमान विज्ञान ने अब तक जो कुछ भी जाना है और जहाँ तक इस विज्ञान की पहुँच है, वह वेद का समर्थन ही करता है। वेदविज्ञान वर्तमान विज्ञान से बहुत अधिक बता रहा है। उस तक अभी वर्तमान वैज्ञानिकों की पहुँच नहीं हो पाई है। वेद में बताया गया है कि मित्र (इलेक्ट्रोन) वरुण (प्रोटोन) प्रकृति के परमाणु के निबन्धन (संयोग) हैं। ये निबन्धन तब बनते हैं जब परमाणु साम्यावस्था से असाम्यावस्था में बदलता है।[१]

केवल भाषा को जाननेवाले यास्क आदि मध्यकालीन विद्वान् ज्ञान-विज्ञान के ज्ञाता न होने के कारण इस रहस्य को समझ नहीं सके। वेद में इतिहास बताने के लोभ में वे यह भूल ही गये कि वे कुछ ऐसा कह रहे हैं जो उनके अपने प्रतिपादित सिद्धान्त का ही विरोध कर रहा है।

मन्त्रों के विषय (देवता) का उन्होंने ध्यान ही नहीं किया; नाम की व्युत्पत्ति धातुओं से नहीं की; वेद में अन्यत्र स्थान पर आपः, मित्र और वरुण की व्याख्या को विस्मृत कर दिया है।

स्वामी दयानन्द के अनुयायियों और पौराणिक पण्डितों तथा उनके अनुयायियों में विवाद चल रहा है। इस विवाद के विषय में हम अपना मत स्पष्ट कर देना उपयुक्त समझते हैं। इस विवाद का उक्त सूक्त से विशेष सम्बन्ध होने के कारण उसका यहाँ पर उल्लेख कर देना उचित है।

विवाद का विषय है कि वेदों में इतिहास है अथवा कि नहीं। यास्क ने ऋ० १०-९८-५,७ मन्त्रों का अर्थ करते हुए कहा है कि इसमें एक इतिहास है। यास्क के शब्द हैं—तत्रैतिहासमाचक्षते। इसका अभिप्राय है कि इस प्रसंग में इतिहास कहा जाता है।

उसने ऋ० १०-९८-७ के मन्त्र 'शन्तनु' तथा 'देवापि' शब्दों को उद्धृत किया है। इसका अभिप्राय यह है कि वेद में वेद के आविर्भाव के बहुत बाद की ऐतिहासिक घटना का उन मन्त्रों में अर्थ निकाल दिया है।

स्वामी दयानन्द का कहना है कि क्योंकि वेद आदि-सृष्टि में रचे गए हैं और वे अपौरुषेय वचन हैं, इस कारण इन मन्त्रों के अर्थ में इतिहास नहीं हो सकता। पौराणिक पण्डित यास्क के मत का ही समर्थन करते हैं।

---

१. इसको विस्तारपूर्वक जानने के लिए सांख्यदर्शन पर लेखक का भाष्य द्रष्टव्य है।

हमने इस सूक्त का अर्थ करके बता दिया है कि इन मन्त्रों का अर्थ इतिहासपरक नहीं है। तदपि हमारे इन अर्थों के होने पर भी, वेद में एक इतिहास का वर्णन है। वह इतिहास मानव-कर्मों का नहीं, अपितु वह जगत्-रचना का इतिहास है। यह माना जाता है कि वेद में तीन विषयों का निरूपण किया गया है—वे विषय हैं शिक्षा, कल्प और ज्योतिष। इन विषयों का विशद वर्णन वेद में है। इनमें कल्प का विषय ही जगत्-रचना का इतिहास है।

यदि संक्षेप में कहा जाए तो कल्प है रचना से पूर्व की स्थिति, रचना-आरम्भ में कारण तथा रचना आरम्भ करनेवाले का वर्णन; रचना के यज्ञ की प्रक्रिया, रचना में प्रथम पग परमाणु का साम्यावस्था से असाम्यावस्था में आना; असाम्यावस्था में परमाणु में उत्पन्न विशेषता और उस विशेषता का परिणाम आपः की सष्टि; आपः के गुण और कर्म; तदनन्तर परिमण्डलों का बनना और फिर परिमण्डलों से मरुतों की सृष्टि। इसके उपरान्त मरुतों से पंचभौतिक जगत् का बनना। इससे सूर्य, तारागण तथा नक्षत्रों का बनना। इन नक्षत्रों में पृथिवी का बनना और फिर पृथिवी पर वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं तथा अन्त में मनुष्य का निर्माण।

यह स्थिति वर्तमान जगत् की है। इसमें ह्रास होने पर अन्त में पूर्ण प्रपंच पुनः परमाणु-रूप में परिवर्तित हो जाता है।

जब से परमाणु की साम्यावस्था भंग होकर इसकी असाम्यावस्था हुई है तब से प्रत्येक परमाणु पर परमात्मा की अग्नि लगाम की भाँति सवार है। इस अवस्था में परमाणु की शक्ति का नाम है—वैश्वानरं अग्नि। जब यह वैश्वानर अग्नि परमाणु से उठ जाएगी, तब परमाणु पुनः साम्यावस्था में हो जायेगा। उस समय समस्त संसार परमाणुभूत हो जायेगा।

यह है वह इतिहास जिसका वेद में वर्णन है। इसके साथ ही यह भी वर्णन किया गया है कि यह सब क्यों हुआ है।

: ३ :

अर्थ अथवा निर्वचन

निरुक्ताचार्य का मत है कि जहाँ वेदमन्त्रों के अर्थ पदों के प्रकृति-प्रत्यय के अनुसार ठीक बैठें वहाँ उसके अनुसार ही अर्थ करने चाहिएँ।

अर्थ ठीक बैठने का अभिप्राय है कि जहाँ मन्त्रार्थ देवता तथा पूर्वापर प्रसंग के अनुरूप हो और साथ ही वह तर्क की कसौटी पर खरा हो, वहाँ व्याकरण के नियमों का पालन करना ही चाहिए; और जहाँ पद के प्रकृति-प्रत्यय कुछ ऐसे अर्थ देने लगें जो सिद्धान्तों का विरोध करने लगें, वहाँ व्याकरण का विचार छोड़कर निर्वचन करने के सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए।

नामों का अभिप्राय समझने के लिए उनका सम्बन्ध धातुओं से देखना आवश्यक होता है। जहाँ धातु के पूर्ण शब्द से सम्बन्ध हो, उसके किसी अंश से हो, यहाँ तक कि धातु के किसी वर्णमात्र से हो तो नाम को उस धातु से व्युत्पन्न समझा जाना चाहिए।

यास्क ने भी अपने निरुक्त २-१ में इसका प्रतिपादन किया है। उसने वहाँ अनेक उदाहरण दिये हैं, अर्थात् 'दा' धातु से 'प्रवत्तम' तथा 'अनन्त' की व्युत्पत्ति है। वहाँ पर धातु का 'द' 'त' में बदल गया है और वही इन शब्दों के होने से धातु से व्युत्पन्न माने जाते हैं। इसी प्रकार 'अस्ति' से 'स्त' और 'सन्ति' व्युत्पन्न माने जाते हैं। धातु का केवल 'स' ही दिखाई देता है।

तदपि ऐसे भी मन्त्र हैं जिनके पदों में प्रकृति-प्रत्यय व्याकरण के अनुसार माने जाने पर भी मन्त्रार्थ ठीक बन पाते हैं।

अब हम यहाँ कुछ ऐसे भी उदाहरण देना चाहते हैं जहाँ व्याकरण के अनुसार मन्त्रार्थ करने पर भी निर्वचन के नियमानुसार अर्थ व्यक्त होते हैं।

एक मन्त्र है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं।
होतारं रत्नधातमम्॥ —ऋ० १-१-१

अन्वय—यज्ञस्य पुरः हितम् होतारं ऋत्विजम् रत्नधातमम् अग्निम् देवम् ईळे।

अर्थ—रचना के पूर्व सामने स्थित यज्ञ का होता ऋत्विक् रत्न देनेवाले अग्नि की मैं स्तुति करता हूँ।

यहाँ अर्थों के अनुरूप ही निर्वचन बनते हैं। ये इस प्रकार हैं—अग्नि, यज्ञ अर्थात् सृष्टि-रचना के समय, समक्ष उपस्थित थी। यह अग्नि रचना-यज्ञ में होता अर्थात् आहुति देनेवाले ऋत्विक् के समान आहुतियाँ देनेवाली थी। इस सृष्टिरचना-यज्ञ में 'रत्न' अर्थात् 'अद्भुत' और 'उपकारी' पदार्थ इस अग्नि से बने थे। इस अग्नि की मन्त्र-द्रष्टा स्तुति करने लगा है। (स्तुति से अभिप्राय है कि उसके गुण-कर्म-स्वभाव का वर्णन।)

यह मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त का प्रथम मन्त्र है। इसका अभिप्राय है कि ऋषि इस वेदमन्त्र में अग्नि, जो सृष्टि-रचना के ऋत्विक् के रूप में कार्य कर रही है, उसके विषय में बताने लगा है। ऋग्वेद में मुख्यतया 'कल्प' के विषय में ही वर्णन है। इसी के अनुरूप जगत्-रचना का वर्णन आरम्भ करते समय इस रचना में मुख्य कारण अग्नि के विषय में कह रहा है।

इस स्थान पर यह स्पष्ट किया जा रहा है कि ऐसे वेदमन्त्र भी बहुत हैं कि जिनके अर्थ व्याकरण के अनुसार करने से निर्वचनों के सिद्धान्तों के अनुसार भी ठीक ही बैठते हैं।

एक अन्य मन्त्र है—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवां एह वक्षति॥ —ऋ० १-१-२

अन्वय—अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः उत नूतनैः ईड्यः सः इह देवान् आ वक्षति।

अर्थ—यह अग्नि पहले ऋषियों द्वारा स्तुति के योग्य थी और नवीन ऋषियों के द्वारा स्तुति करने योग्य है। यह यहाँ देवताओं को प्राप्त कराती है।

यहाँ पर पहले के ऋषियों से अभिप्राय है पूर्व-कल्प के ऋषि, और नवीन ऋषियों से अभिप्राय है इस कल्प के ऋषि।

अभिप्राय यह है कि यह अग्नि रचना के समय सामने उपस्थित थी, अर्थात् रचना पूरी होने के पहले भी यह विद्यमान थी। इस कारण यह वर्तमान

कल्प के विद्वानों द्वारा भी वैसे ही जानने योग्य है जैसे पूर्व के ऋषियों से जानने योग्य थी।

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि अग्नि एक अनादि तत्त्व है। साथ ही यह भी कह दिया है कि वह अग्नि हमें देवताओं को प्राप्त कराती है—देवता अर्थात् जगत् के दिव्य गुणयुक्त पदार्थ। अभिप्राय है, सूर्य आदि नक्षत्र और आपः इत्यादि निबन्धन और मरुत-गण अथवा इनसे निर्मित अद्भुत और उपकारी पदार्थ। ये सब अग्नि से ही बनाये गए हैं।

एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है—

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन्॥

—ऋ० १-१६३-१

अन्वय—यत् अक्रन्दः प्रथमम् जायमानः समुद्रात् उद्यन् उत-वा पुरीषात्। श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू महिजातम् उपस्तुत्यम् ते अर्वन्॥

अर्थ—जो अन्तरिक्ष और व्यापक कारण से प्रथम उत्पन्न हुआ (घोर नाद करनेवाला), बाज़ के पंखों और हरिण की बाहों की भाँति गति से, महान् उत्पन्न होता हुआ प्रशंसा के योग्य हो, हे अर्वन्!

मन्त्र का देवता है अश्वाग्निः अर्थात् वह अग्नि जो रचनायज्ञ को अश्व की भाँति चलाता है। अश्व रथ को हाँककर ले जाता है, इसी प्रकार यह अग्नि रचना-यज्ञ को पूर्णता की ओर ले जाता है।

अग्नि अपने 'व्यापक' कारण अर्थात् परमात्मा से अन्तरिक्ष में प्रकट होती है।

एक अन्य उदाहरण है।

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥

—ऋ० १-१६४-१

अन्वय—अस्य वामस्य पलितस्य तस्य होतुः मध्यमः भ्राता अश्नः अस्ति। अत्र अस्य तृतीयः भ्राता घृतपृष्ठः विश्पतिम् सप्तपुत्रम् अपश्यम्॥

अर्थ—इस सुन्दर वृद्ध होनेवाले का होता (यज्ञ करनेवाला) बीच बैठा भाई है। यहाँ इसका तृतीय भाई पालन करनेवाला (तथा) रक्षा करनेवाला और उसके सात पुत्र (प्राण) देखता हूँ।

इस मन्त्र में मनुष्य-शरीर के विषय में कहा गया है। वह सुन्दर है और

वृद्ध होनेवाला है। उसके मध्य में बैठा उसका भाई उसका भोग कर रहा है। एक तीसरा भाई भी है जो उक्त दोनों की पालना और रक्षा करता है। वह अपने सात पुत्रों अर्थात् प्राणों-सहित उस शरीर में दिखाई देता है। दिखाई देने का अभिप्राय यह है कि चिन्तन करने से उसका पता चलता है।

इस प्रकार वेद में ऐसे मन्त्र भरे पड़े हैं, जिनका अर्थ पाणिनि के व्याकरण के अनुसार किया जा सकता है।

तदपि यह समझ लेना चाहिए कि व्याकरण का अर्थ शब्दकोष नहीं है। मन्त्रों के शब्दों के अर्थ तो निर्वचन-विद्या से ही करने होंगे। यह निरुक्त के प्रयोग से हो सकता है।

जहाँ कहीं भी व्याकरण के अनुसार अर्थ करने पर शब्दार्थ में विकृति आने लगे, वहाँ व्याकरण को छोड़ देना चाहिए। उस अवस्था में निरुक्त के सिद्धान्तों के अनुसार ही मन्त्र का अर्थ करना उपयुक्त होगा।

उदाहरण के रूप में एक वेद-मन्त्र में एक शब्द है—पुरीषात्। मन्त्र की दृष्टि से इसका अर्थ है प्राचीन और व्यापक कारण से। यहाँ सृष्टि-रचना के सन्दर्भ में व्यापक कारण का अभिप्राय है—परमात्मा। व्याकरण की दृष्टि से पुरीषात् का अर्थ कदाचित् कुछ भिन्न भी हो सकता है।

अग्नि का पुरातन और व्यापक कारण परमात्मा ही है। इस कारण इस मन्त्र में इसके अर्थ होंगे—परमात्मा से अग्नि प्रकट हुई।

: ४ :

देवता

इससे पूर्व हम यह स्पष्ट कर आये हैं कि मन्त्रार्थ करने में देवता का ज्ञान होना परमावश्यक है। इस विषय में हम यास्क के मत को भी स्पष्ट कर चुके हैं। यास्क के समान ही शौनक भी प्रख्यात है। यहाँ हम उसका मत भी प्रस्तुत कर देना चाहते हैं।

शौनक का कथन है—

वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।
दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति॥ —बृ०दे० १-२

अर्थ—जो देवताओं को जानता है वह ही मन्त्र के भाव को जानता है, जो मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों ने ही जाना था।

शौनक के उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि मन्त्र अथवा मन्त्रांश के देवता से मन्त्र में वर्णित विषय का ज्ञान होता है।

इससे यह पता चलता है कि देवता का ज्ञान मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों ने ही जाना था और देवता कहकर उन्होंने ही प्रकाश किया था।

तदपि कतिपय भाष्यकारों ने इसमें भी हस्तक्षेप किया है। कुछ ने तो परम्परागत देवता को न स्वीकार कर मनमाने अर्थ कर दिये हैं, और कुछ अन्य भाष्यकारों ने देवता का अर्थ ही अशुद्ध करके मन्त्र के अर्थ को बिगाड़ दिया है। इस प्रकार उन्होंने अर्थ का ऐसा अनर्थ किया है कि उसका कोई पूर्वापर प्रसंग ही नहीं बैठता। उदाहरण के रूप में एक मन्त्र है—

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः।
रोचन्ते रोचना दिवि॥ —ऋ० १-६-१

सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों का देवता इन्द्र है।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है—

(युञ्जन्ति) योजयन्ति (ब्रध्नम्) महान्तं परमेश्वरम् शिल्पविद्यासिद्धय आदित्यमग्निं प्राणं वा। ब्रध्न इति महन्नामसु पठितम्। निघं० ३-३।

अश्वनामसु च। निघं० १-१४। (अरुषम्) सर्वेषु मर्मसु सीदन्तमहिंसकं परमेश्वरं प्राणवायुं तथा बाह्ये देशे रूपप्रकाशकं रक्तगुणविशिष्टमादित्यं वा। अरुषमिति रूपनामसु पठितम्। निघं० ३-७। (चरन्तम्) सर्वजगज्जानन्तं सर्वत्रव्याप्नुवन्तं (परि) सर्वतः (तस्थुषः) तिष्ठन्तीति तान् सर्वान् स्थावरान् मनुष्यान् वा। तस्थुष इति मनुष्यनामसु पठितम्। निघं० २-३। (रोचन्ते) प्रकाशन्ते रुचिहेतवश्च भवन्ति (रोचनाः) प्रकाशितः [प्रकाशकाश्च] दिवि द्योतनात्मके ब्रह्मणि सूर्यादि प्रकाशे वा।

अर्थ—जो मनुष्य (अरुषम्) अङ्ग-अङ्ग में व्याप्त होने वाले हिंसारहित सब सुख को करने (चरन्तम्) सब जगत् को जानने वा सबमें व्याप्त (परितस्थुषः) सब मनुष्य वा स्थावर-जङ्गम पदार्थ और चराचर जगत् में भरपूर हो रहा है (ब्रध्नम्) उस महान् परमेश्वर को उपासना योग द्वारा प्राप्त होते हैं, वे (दिवि) प्रकाशरूप परमेश्वर और बाहर सूर्य्य वा पवन के बीच में (रोचनाः) ज्ञान से प्रकाशमान् होके (रोचन्ते) आनन्द में प्रकाशित होते हैं।

तथा जो मनुष्य (अरुषम्) दृष्टिगोचर में रूप का प्रकाश करने तथा अग्निरूप होने से लाल गुणयुक्त (चरन्तम्) सर्वत्र गमन करनेवाले (ब्रध्नम्) महान् सूर्य और अग्नि को शिल्प-विद्या में (परियुञ्जन्ति) सब प्रकार से युक्त करते हैं, वे जैसे (दिवि) सूर्य्य आदि के गुणों के प्रकाश में पदार्थ प्रकाशित होते हैं, वैसे (रोचनाः) तेजस्वी होके (रोचन्ते) नित्य उत्तम-उत्तम आनन्द से प्रकाशित होते हैं।

स्वामी दयानन्द को अपने इन अर्थों से सन्तोष नहीं हुआ, तब फिर उन्होंने इनके दूसरे अर्थ भी किये। हमारी विवेचना दोनों पर समान ही है। इस कारण हम उन दूसरे अर्थों को देने की आवश्यकता नहीं समझते।

इन अर्थों में स्वामीजी ने परमेश्वर की स्तुति की है, अर्थात् उन्होंने परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव का वर्णन किया है। अतः स्वामीजी ने इस मन्त्र का देवता अर्थात् विषय परमात्मा समझा है। अपने ग्रन्थ में भी स्वामीजी ने इस मन्त्र का तथा इससे अगले दो मन्त्रों का देवता 'इन्द्र' ही कहा है। इसका अभि-प्राय यह हुआ कि यहाँ पर स्वामीजी ने इन्द्र से अभिप्राय परमेश्वर लिया है।

सूक्त के अगले मन्त्र का अर्थ देखिये। उसका देवता भी अर्थात् उसका विषय भी इन्द्र ही है। मन्त्र इस प्रकार है—

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे।
शोणा धृष्णू नृवाहसा॥ —ऋ० १-६-२

स्वामी दयानन्दजी इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं ।—

(युञ्जन्ति) **युञ्जन्तु। अत्र लोडर्थे** लट्। (अस्य) सूर्य्यस्याग्नेः (काम्या) **कामयितव्यौ। अत्र सर्वत्र सुपां सुलुगि इत्याकारादेशः।** (हरी) **हरणशीलावाकर्षणवेगगुणौ। पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी, ताभ्यामिदं सर्वं हरतीति। षड्विंश ब्रा० प्रपा० १, खण्ड १।** (विपक्षसा) **विविधानि यन्त्रकलाजलचक्रभ्रमणयुक्तानि पक्षांसि पार्श्वे स्थितानि ययोस्तौ** (रथे) **रमणसाधने भूजलाकाशगमनार्थे याने। यज्ञसंयोगाद्राजा स्तुतिं लभेत, राजसंयोगद्युद्धोपकरणानि। तेषां रथः प्रथमागामी भवति। रथो रहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिँस्तिष्ठतीति वा, रयतेर्वा रसतेर्वा। निरु० ९-११। रथ इति पदनामसु पठितम्। निघं० ५-३। आभ्यां प्रमाणाभ्यां रथशब्देन विशिष्टानि यानानि गृहयन्ते।** (शोणा) **वर्णप्रकाशकौ गमनहेतु च** (धृष्णू) **दृढौ** (नृवाहसौ) **सम्यग्योजितौ। नृन् वहतस्तौ।**

अर्थ—हे विद्वान् लोगो! (अस्य) सूर्य और अग्नि के (काम्या) सबके इच्छा करने योग्य (शोणा) अपने-अपने वर्ण के प्रकाश करनेहारे वा गमन के हेतु (धृष्णू) दृढ़ (विपक्षसा) विविध कला और जल के चक्र घूमनेवाले पाँख-रूप यन्त्रों से युक्त अच्छी प्रकार सवारियों में जुड़े हुए (नृवाहसा) मनुष्यादिकों को देश-देशान्तर में पहुँचानेवाले (हरी) आकर्षण और वेग तथा शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष रूप दो घोड़े जिनसे सबका हरण किया जाता है, इत्यादि श्रेष्ठ गुणों को पृथिवी, जल और आकाश में जाने-आने के लिए अपने-अपने रथों में (युञ्जन्ति) जोड़ें।

इस मन्त्र में 'हरी' को मन्त्र का देवता अर्थात् विषय माना गया है। 'हरी' का अर्थ कृष्ण और शुक्ल पक्ष भी किया है।

अपने मन्त्रार्थ में स्वामीजी ने कला-कौशल की बात भी कही है।

मन्त्र के आरम्भ में मनुष्यों को सम्बोधित किया गया है। इससे यह भी कहा जा सकता है कि इस मन्त्र का विषय मानव-कल्याण ही है।

इसमें इन्द्र (परमात्मा) भी देवता कहा जा सकता है, परन्तु 'हरी' का अर्थ दुःख हरनेवाला परमेश्वर नहीं कर सकते। कारण कि 'हरी' यहाँ पर द्विवचनान्त है। इसलिए इसका अर्थ शुक्ल और कृष्णपक्षरूप काल (समय) कर दिया है।

पुस्तक के अनुसार भी इस मन्त्र का देवता इन्द्र ही है।

इस सूक्त का अगला मन्त्र भी इन्द्र देवता के विषय पर है। मन्त्र इस प्रकार है—

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्य्या अपेशसे।
समुषद्भिरजायथाः। —ऋ० १-६-३

स्वामी दयानन्द इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं।

(केतुम्) प्रज्ञानम्। केतुरिति प्रज्ञानामसु पठितम्। निघं० ३-९। (कृण्वन्) कुर्वन् सन्। इदं कृवि हिंसाकरणयोश्च इत्यस्य रूपम्। (अकेतवे) अज्ञानान्धकार विनाशाय (पेशः) हरिण्यादि धनं श्रेष्ठं रूपं वा। पेशः इति हिरण्यनामम पठितम्। निघं० १-२। रूपनामसु च। निघं० ३-७। (मर्य्याः) मरणधर्मशीला मनुष्यास्त्सम्बोधने। मर्य्या इति मनुष्यनामसु पठितम्। निघं० २-३। (अपेशसे) निर्धनतादारिद्याद्दिोषविनाशाय (सम्) सम्यगर्थे (उषद्भिः) ईश्वरादि पदार्थविद्याः कामयमानैर्विद्वद्भिः सह समागमं कृत्वा (अजायथाः) एतत्विद्याप्राप्त्या प्रकटो भव। अत्र लोडर्थे लङ्।

अर्थ—(मर्य्याः) मनुष्य लोगो ! जो परमात्मा (अकेतवे) अज्ञानरूपी अन्धकार के विनाश के लिए (केतुम्) उत्तम ज्ञान और निर्धनता, दारिद्र्य तथा कुरूपता-विनाश के लिए (पेशः) सुवर्णादि धन और श्रेष्ठ रूप को (कृण्वन्) उत्पन्न करता है उसको तथा सब विद्याओं को (समुषद्भिः) जो ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल वर्तनेवाले हैं उनसे मिल-मिल जानके (अजायथाः) प्रसिद्ध हूजिये। तथा हे जानने की इच्छा करनेवाले मनुष्य ! तू भी उस परमेश्वर के समागम से (अजायथाः) इस विद्या को यथावत् प्राप्त हो।

इन तीन मन्त्रों में न तो देवता का विचार कर अर्थ किये गये हैं, न ही शब्दार्थों की सीमा के भीतर रहकर कल्पना की गई है।

इन मन्त्रों का देवता इन्द्र है। इन्द्र का अर्थ परमात्मा किया गया है। इन्द्र के देवता के रूप में अर्थ वेद में ही समझाये गये हैं। शौनक ने भी अपने ग्रन्थ 'बृहद्देवता' में बताया है कि मन्त्र के देवता का अभिप्राय कैसे समझा जाय। शौनक का कथन है—

स्तोतृभिर्देवतानाम्ना उपेक्षेतेह मन्त्रवित्।
तत्खल्वाहुः कतिभ्यस्तु कर्मभ्यो नाम जायते।
सत्त्वानां वैदिकानां वा यद्वान्यदिह किंचन।
—बृ० दे० १-२२, २३

अर्थ—मन्त्रों के जाननेवाले स्तुतियों के द्वारा देवताओं के नाम से मन्त्रों के अर्थों को जानते हैं।

इस कारण कहा जाता है कि अर्थ से ही नाम का ज्ञान होता है। वेद का यथार्थ अर्थ अथवा जो कुछ भी सम्बन्धित बात होती है वह नामों से ही विदित होती है।

इसका अर्थ यह है कि जहाँ मन्त्र का अर्थ देवता से जाना जाता है, वहाँ देवता का भी अभिप्राय वेद में आये शब्दों (शब्द के अर्थों) से ही पता चलता है।

इसका अभिप्राय है कि देवता का अर्थ भी वेद ही बताता है। इन्द्र का अर्थ वेद ने स्वयं ही बताया है। एक बार जब देवता का अर्थ विदित हो जाय तब उस देवता के मन्त्रों का, उसके अनुरूप ही अर्थ करना चाहिए।

ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्द्र की उत्पत्ति के विषय में बताया है। उसमें एक सूक्त का देवता है—अश्वोऽग्निः—अर्थात् वह अग्नि जो रचना-कार्य को रथ की भाँति चलानेवाला है। अभिप्राय यह कि इस सूक्त में जगत्-रचना का वर्णन किया गया है। इस रचना में सूक्त के दूसरे मन्त्र में कहा है—

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।

—ऋ० १-१६३-२

अन्वय—यमेन दत्तम् त्रितः आयुनक्। एनम् प्रथमः इन्द्रः अध्यतिष्ठत्।

अर्थ—यम (परमात्मा) द्वारा दी हुई लगाम जो इस त्रित ने जोप ली, इस (त्रित) पर पहले इन्द्र अधिष्ठित था।

त्रित प्रकृति का परमाणु है जो सत्त्व, रजस्, तमस् तीन शक्तियों का सन्तुलित संयोग है। उस पर लगाम लगने से पहले इन्द्र उस पर अधिष्ठित था।

इससे यही सिद्ध होता है कि इन्द्र प्रकृति के परमाणु पर पहले बैठा हुआ था।

इसी तथ्य को याज्ञवल्क्य ने शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार कहा हैं—

असद्वा इदमग्र आसीत् तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्तदाहुः के तऽऋषय इति प्राणा वाऽऋषयस्ते यत्पुरास्मात्सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषयः॥

स योऽयं मध्ये प्राणः। एष एवेन्द्रस्तानेषु प्राणान्मध्यत इन्द्रियेणैन्द्ध यदैन्द्ध तस्मादिन्ध इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोऽक्षं परोक्ष कामा हि

देवास्त इद्धाः सप्त नाना पुरुषानसृजन्त ॥ —श० ब्रा० ६-१-१-१, २

अर्थ—पहले वह असत् (अव्यक्त) ही था। तब कहा गया है कि यह अव्यक्त क्या था? पहले ये असत् ऋषि ही थे। तब कहा गया कि ये ऋषि कौन थे? प्राण ही वे ऋषि थे, जिन्होंने सबसे पहले इस सृष्टि को चाहा। वे श्रम तथा तप से खिन्न हो गए। अरिषन् हो गए। इसलिए इनका नाम ऋषि है ॥ १ ॥

वह प्राण ही मध्य में इन्द्र है। इसी इन्द्र ने अपने इन्द्रिय से मध्य में इन प्राणों को दीप्त किया। इन्ध अर्थात् दीप्त करने से इन्ध = दीप्त करनेवाला मिला। उस दीप्त करनेवाले को इन्द्र कहते हैं। इन्द्र परोक्ष है। देव परोक्षप्रिय होते हैं। दीप्त हुए इन प्राणों से सात पृथक्-पृथक् पुरुष उत्पन्न हुए ॥ २ ॥

वेद और शतपथ ब्राह्मण में वर्णित जिस बात को हम यहाँ पर स्पष्ट करना चाह रहे हैं वह है प्रकृति का जो शान्त अर्थात् साम्यावस्था का रूप था उसे ही वेद में त्रित कहा गया है और शतपथ में उसको ऋषि कहा गया है। इन्द्र उनमें छिपा हुआ बैठा था। वह प्रत्यक्ष हो गया और फिर सात पृथक्-पृथक् पुरुषों में विभक्त हो गया।

यह है इन्द्र! स्वामी दयानन्द ने उसे परमात्मा कहकर मन्त्रार्थ करने का यत्न किया है। हमारे विचार से वह अर्थ ठीक नहीं है। साथ ही मर्य्या के अर्थ मरणशील अवश्य हैं, किन्तु इस संसार में केवल मनुष्य ही तो मरणशील नहीं हैं। अन्य अनेकानेक जीव और पदार्थ हैं जो मरणशील हैं। इस कारण यहाँ पर किसी ऐसे मरणशील से अभिप्राय है जिसका सम्बन्ध परमाणु-स्थित इन्द्र से है। वह मनुष्य नहीं हो सकता।

इन्द्र और मर्य्या क्या हैं? इस विषय में सूक्त के अगले मन्त्रों के अध्ययन से विदित होता है। पाठकों को समझाने के लिए कि किस प्रकार मन्त्रों के वास्तविक अर्थ विदित करने का यत्न किया जा सकता है, उन मन्त्रों को हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं।

इस सूक्त के चौथे मन्त्र का देवता अर्थात् विषय मरुत है। मरुत क्या होता है—इसे जानने के लिए मरुत के मन्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता है। परन्तु उससे पूर्व हम जैमिनी ब्राह्मण में मरुतों के विषय में बता दें तो बात और भी सरल हो जाएगी। वहाँ कहा गया है—

ततो मरुतो सृजत् ईशानमुखान् ॥ —जै० ब्रा० ३-३८१

अर्थात् जब मरुत बनते हैं तो उनके मुख ईशान कोण की ओर हो जाते

हैं।

उत्तर और पूर्व दिशा के बीच के कोण को ईशान कोण कहते हैं। यह वह दिशा है जिधर सब चुम्बकीय पदार्थ घूम जाया करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि मरुत बनते ही अपने में चुम्बकीय शक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

वर्तमान विज्ञान भी यही मानता है कि मोलिक्यूल में चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मरुत और मोलिक्यूल पर्यायवाचक शब्द हैं।

अब अगले मन्त्र को पढ़ें जिसका देवता मरुत है तो इस धारणा की पुष्टि हो जायगी। किन्तु इससे पूर्व हम सूक्त के मन्त्र १, २, ३ का अर्थ अपने विचार से कर देना चाहते हैं।

इन्द्र के अर्थ प्रकृति की त्रिगुणात्मक शक्ति मानकर सूक्त के प्रथम मन्त्र के अर्थ होंगे—**परि तस्थुषाः ब्रध्नं अरुषं युञ्जन्ति** (सब ओर से स्थिर शान्त) विरोध न करनेवाले प्रकाशमान से जुड़ते हैं। **दिवि रोचना रोचन्ते**—अन्तरिक्ष में प्रकाशित हो चमकने लगते हैं।

मन्त्र का देवता इन्द्र है। मन्त्र में कहा गया है कि जो चारों ओर स्थिर थे, वे क्या थे? स्पष्ट है कि आरम्भ में परमाणु साम्यावस्था में, चारों ओर स्थिर, उपस्थित थे। वे प्रकाशमान अर्थात् परमात्मा के तेज (प्राण) से युक्त हो गये। तब वे भी (अर्थात् परमाणु भी) प्रकाशमान हो गये। अभिप्राय यह कि असाम्यावस्था में होकर सजग हो गये।

यह उस समय की स्थिति का वर्णन है जब ऋ० १-१६३-२ में वर्णित परमात्मा का प्राण परमाणु पर लगाम बन गया था।

सूक्त (१-६) के दूसरे मन्त्र का अन्वयार्थ इस प्रकार है—

यत युञ्जन्ति अस्य रथे काम्या हरी विपक्षसा।

जब उसके रथ में कामना करते हुए दो घोड़े दोनों पक्षों में जुड़ते हैं;

शोणा धृष्णू नृवाहसा।

चमकते हुए दृढ़ता से रथ में बैठे हुए को बहा ले जाते हैं।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि परमात्मा का तेज परमाणुओं से जुड़ जाता है। तब रथ अर्थात् परमाणु के दो घोड़े जुड़ जाते हैं और दृढ़ता से परमाणु से जुड़े हुए, उसमें बैठे हुए अर्थात् परमाणु के उपादान को साथ लिये हुए चल पड़ते हैं।

ये दो घोड़े हैं इन्द्र की रजस्-शक्ति और सत्त्व-शक्ति। ये बहिर्मुख हो

परमाणु को लेकर चल पड़ते हैं। तीसरे मन्त्र का अन्वयार्थ इस प्रकार है—

मर्य्याः उषद्भिः अजायथाः। अकेतवे केतुम् कृण्वन्। सम् अपेशसे पेशः।

मरणशील (मरुत) रश्मियों से उत्पन्न हुए। अक्रिय क्रियाशील किये गये। अरूपवान् (अव्यक्त) रूपवान् हो गये।

इन तीनों मन्त्रों का अभिप्राय यह बनता है कि जब परमाणु से प्राण-स्वरूप बहिर्मुख हुआ तो परमाणु जो पहले स्थिर अर्थात् निश्चल थे चलने लगे—विपरीत शक्ति की रश्मियों से आकर्षित हो चलने लगे। परमाणु रथ के समान थे। इन्द्र की सत्त्व और रजस् शक्तियाँ उन परमाणुओं को रथ के घोड़ों के समान खेंचने लगीं। ये दृढ़ अश्व परमाणु का सब द्रव्य साथ लिये हुए चलने लगे। परमाणुओं के संयोग बने तो वे अव्यक्त से व्यक्त हो गये।

मरुत का अर्थ मरणशील ही है। परन्तु केवल मनुष्य ही मरणशील नहीं है, जगत् का प्रत्येक पदार्थ मरणशील है। इस कारण यह देखना होगा कि यहाँ मरणशील पदार्थ क्या है? एक तो मरुत को चुम्बक की भाँति ईशान कोण की ओर देखने की बात जैमिनी ब्राह्मण में होने से इस बात का संकेत मिलता है कि मरुत का अभिप्राय मोलिक्यूल से है। साथ ही इसी सूक्त का अगला मन्त्र भी कुछ वैसा ही अर्थ देता है। मन्त्र है—

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे। दधाना नाम यज्ञियम्॥

—ऋ० १-६-४

इस मन्त्र का देवता अर्थात् विषय मरुत है। अभिप्राय यह कि इसमें मरुत के विषय पर प्रकाश डाला गया है। ऐसा स्वामी दयानन्द का मत है। अब हम उनके अर्थ की परीक्षा करते हैं।

अन्वय—आत् अह स्वधाम् अनुपुनः गर्भत्वम् एरिरे। नाम यज्ञियं दधानः।

अर्थ—अब यह निश्चय ही है कि प्रकृति को पुनः गर्भ की स्थिति प्राप्त होती है। यह यज्ञ करने की योग्यता धारण करती है।

जब असाम्यावस्था में परमाणु परस्पर आकर्षण-विकर्षण करने लगे तो तीन प्रकार के निबन्ध बन गये। ये आपः कहे जाते हैं। तदनन्तर, ऋ० १-३२ में बताया गया है कि किस प्रकार ये आपः विपरीत आवेशवाले होने के कारण परस्पर संघर्ष करते हुए परिमण्डल (एटम) के स्वरूप में आ गये, और इस मंत्र में बताया है कि ये परिमण्डल परस्पर संयोग करते हुए प्रकृति के परमाणुओं को पुनः गर्भ की अवस्था में ले गये।

वास्तव में परमाणुओं के संयोग हुए आपः और आपः के संयोग हुए परिमण्डल। परिमण्डलों के संयोग हुए मरुत और ये मरुत ही पुनः गर्भ की स्थिति में हो गये।

पुनः का अभिप्राय है कि प्रकृति पहले भी गर्भ की स्थिति में थी। यह गर्भ की स्थिति में कब थी? उस समय थी, जबकि इसकी साम्यावस्था थी। उस समय इसकी तीनों प्रकार की शक्तियाँ परमाणु के भीतर ही सन्तुलित अवस्था में थीं और उनका बाहर प्राकट्य नहीं होता था।

यही अवस्था प्रकृति की अब (अर्थात् मरुत की अवस्था में) हो जाती है। आपः और परिमण्डल ऐटम की अवस्था में परमाणुओं की सत्त्व और रजस् शक्तियाँ अणु से बाहर प्रकट होती रहती हैं। एक मोलिक्यूल की अवस्था में ये शक्तियाँ होती तो हैं परन्तु बाहर प्रकट नहीं होतीं।

वर्तमान विज्ञान की भाषा में इनको इस प्रकार प्रकट किया जाता है—
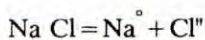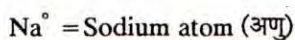
Na Cl = Na° + Cl"	Na° = Sodium atom (अणु)
मरुत (molecule)	C1" = Chlorine atom

आपः और परिमण्डल की अवस्था में इन शक्तियों को बिन्दु और टेढ़ी रेखा से प्रकट किया गया है। बिन्दु का अभिप्राय है कि सत्त्व-आवेश की एक इकाई उस परमाणु अथवा अणु पर है। दो इकाइयाँ वहाँ दो बिन्दु अथवा दो रेखाएँ बना दी गई हैं।

एक मरुत में न बिन्दु है और न रेखाएँ। उस मरुत में वे परस्पर निःशेष (न्यूट्रलाइज़) हो गई हैं।

उदाहरण दिया गया है नमक के मरुत (मोलिक्यूल) का। यह दो प्रकार के परिमण्डलों से बना है। Na° (सोडियम एटम) और C1' (क्लोरीन के एटम) से।

वर्तमान विज्ञान भी यह मानता है कि जहाँ परिमण्डल (एटम) पर भी शेष आवेश होता है, वहाँ जब उनको शुद्ध अवस्था में लिखना होता है तो अणु के चिह्न के नीचे दो अथवा अधिक अंक लिखकर यह प्रकट किया जाता है कि वे अपने ही आवेश से युक्त हैं, यथा—क्लोरीन Cl2 और सोडियम Na2।

आपः (एटॉमिक पार्टिकल्स) तो आवेशयुक्त माने ही जाते हैं। उनमें धन (+Charge) आवेश अथवा ऋण (−Charge) आवेश है।

एक मरुत के सब आवेश मरुत के भीतर ही निःशेष हो जाते हैं। इसी

कारण यह कहा जाता है कि प्रकृति पुनः गर्भावस्था में हो गई है, अर्थात् उसकी सत्त्व और रजस् शक्तियाँ मरुत (मोलिक्यूल) के भीतर ही निःशेष हो गई हैं, जैसे परमाणु के भीतर वे निःशेष थीं।

स्वामी दयानन्द के मन्त्रार्थ में और हमारे मन्त्रार्थ में भेद है। वे इन्द्र को परमात्मा समझते रहे हैं। हमने स्पष्ट किया है कि वेद में इन्द्र को प्रकृति का अंश बताया गया है।

कदाचित् स्वामीजी ने अपनी धारणा ऋग्वेद १-१६४-४६ के मन्त्र के कारण बनाई है।

इस मन्त्र के अर्थ भी हम यहाँ पर स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

मन्त्र इस प्रकार है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

—ऋ० १-१६४-४६

अन्वय—इन्द्रम् मित्रम् वरुणम् अग्निम् अथः सः आहुः दिव्यः सुपर्णः गरुत्मान्। विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानं एकं सत् आहुः।

अर्थ—इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि को वह सुन्दर और वेग की गति वाला महान् बलवान् कहते हैं। विद्वान् लोग अनेक प्रकार से कहते हैं कि एक अनादि तत्त्व है अग्नि, यम और मातरिश्वा।

मन्त्रार्थ को समझने के लिए यह देखना आवश्यक है कि मन्त्र में दो क्रियाएँ हैं, अर्थात् दो पृथक्-पृथक् वाक्य हैं और दोनों में दो पृथक्-पृथक् कर्म हैं। एक क्रिया के कर्मों को दूसरी क्रिया के कर्मों से मिलाने की आवश्यकता नहीं। ये मिलाए भी नहीं जा सकते, क्योंकि दोनों के गुण पृथक्-पृथक् हैं।

पहली पंक्ति में इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि हैं और बताया है कि ये महान् गतिवाले और बलवान् हैं।

दूसरी पंक्ति में अग्नि, यम और मातरिश्वा हैं। इनको सत् अर्थात् अनादि अविनाशी कहा गया है।

इन्द्र, मित्र, वरुण आदि को अविनाशी नहीं कहा गया है। इससे हमारा निश्चित मत है कि एक मन्त्र में दो प्रकार के पदार्थों का वर्णन है। दोनों भिन्न-भिन्न श्रेणी के पदार्थ हैं। पहली श्रेणीवालों को अविनाशी नहीं कहा गया है।

वैसे वेद में एक अन्य स्थान पर इनकी उत्पत्ति अर्थात् कार्यरूप में आने की बात कही गई है। मित्र और वरुण तो निश्चय से निर्मित पदार्थ हैं और ये सब प्रकृति की ही उपज हैं।

इस मन्त्र में एक बात और समझने की है। अग्नि दोनों श्रेणियों के पदार्थों में आया है—अनादि और अविनाशी पदार्थों में भी, और वेगवान् पदार्थों में भी। इसका अर्थ है कि अग्नि दो प्रकार की है। एक अनादि अविनाशी है। यह वही अग्नि है जिसका वर्णन ऋ० १-१-१ में आया है, जो जगत्-रचना के समय विद्यमान थी और रचना-यज्ञ में विशेष भाग लेती थी। दूसरी अग्नि है जिसे 'जातवेदा' है जो लकड़ी, कोयला इत्यादि के जलाने के समय प्रकट होती है।

जातवेदा अग्नि इन्द्र का ही रूप है। यह जब जलती है तो जानी जाती है, अर्थात् सब प्राकृतिक पदार्थों की भाँति सब समय नहीं जलती। इसको कोई जलाये तो तब यह दिखाई देती है।

हमारा यह निश्चित मत है कि इन्द्र का अर्थ वेद में परमात्मा के लिए नहीं है। हमारी यह धारणा है कि देवताओं के विषय में वेद में दो मत नहीं हैं। पूर्ण वैदिक साहित्य में इन्द्र का अर्थ प्रकृति की त्रिगुणात्मक शक्ति ही है। इन्द्र परमात्मा के लिए नहीं आया है। वेद के अर्थों में विरोध नहीं है।

सायणादि भाष्यकारों ने भी यही भूल की है। हम यहाँ पर सायणाचार्य द्वारा किये गये अर्थों का एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

ऋग्वेद के छठे मण्डल के सैंतालीसवें सूक्त के प्रथम पाँचों मन्त्र सोम के विषय में हैं, अर्थात् उनका देवता सोम है।

प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

स्वादुष्किलायं मधुमां उतायं तीव्रः किलायं रसवां उतायम्।
उतोऽन्वऽस्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु॥

—ऋ० ६-४७-१

सायण इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करता है—

अयं स्वादुः किल अभिषुतः सोमः आस्वादनीयः भवति।
उत मधुमान् अयं अपि च माधुर्यवांश्च सोमो भवति।
अयं तीव्र किल तथा सोमः मदोत्पादने तीक्ष्णः खलु भवति।
उत अयं रसवान् अपिच सोमः सारवांश्च भवति।
अनेन वाक्यचतुष्टयेन सोमस्य माधुर्यातिशयत्वं च प्रतिपादितम्।

उतो अस्य पपिवांसं इन्द्रं आहवेषु न कश्चन सहते अपि च सोमस्य द्वितीयार्थे षष्ठी। इमं सोमं पीतवन्तं संग्रामेषु न कश्चन सहते न कोऽपि अभिभवति। नु इति पूरकः।

सायण के भाष्य का हिन्दी-अनुवाद इस प्रकार है—

निचोड़कर निकाला हुआ सोम अति स्वादिष्ट होता है। और सोम तीक्ष्ण मस्ती उत्पन्न करनेवाला होता है। [सोम रसवाला होता है। रस शब्द के अनेक अर्थ हैं। किसी वस्तु के सत्त्व से आत्मा तक के अर्थ हैं। सायण का अभिप्राय श्रेष्ठ रस से ही है।]

सायण विभक्ति-विपर्यय करके अर्थ करता है—पिये हुए इन्द्र को संग्राम में कोई जीत नहीं सकता।

इन अर्थों में बहुत दोष हैं। बहुत-कुछ अपनी बुद्धि से समाविष्ट कर दिया गया है। हमारी दृष्टि में वह मन्त्र के विषय के विचार से सर्वथा अनुपयुक्त है। हमने बताया है कि मन्त्र का देवता सोम है, अर्थात् इसमें सोम के विषय में कुछ बताया गया है। सोम किसी प्रकार का पेय पदार्थ नहीं है। यह प्रकृति के परमाणुओं का एक प्रकार का निबन्धन है।[१]

परमाणुओं के तीन प्रकार के निबन्धन बनते हैं। उन निबन्धनों का नाम है मित्र, वरुण और अर्यमा। अर्यमा का ही एक नाम सोम है। ऋ० १-१६३-३,४ तथा १-१३६-२,३,४।

इन परमाणुओं के सोम-निबन्धनों के विषय में ही यह मन्त्र है।

हमारे मत में इसका अर्थ इस प्रकार किया जाना चाहिए—

(अयं स्वादुः किल) [यह सोम] निश्चय से वस्तुओं को स्वादु बनाता है।

(उत मधुमान् अयं) और यह मिठास गुणवाला है।

(अयं तीव्रः किल) और निश्चय से यह तीव्र गुण उत्पन्न करता है।

(उत अयं रसवान्) और यह श्रेष्ठ गुण उत्पन्न करनेवाला है।

सायण के अर्थ और हमारे अर्थ में यहाँ तक तो केवल इतना ही अन्तर है कि सायण ने अपनी ओर से (भवति) शब्द जोड़कर अर्थों को पूर्ण करने का यत्न किया है। हम भवति के स्थान पर (करोति) शब्द जोड़कर यह प्रकट कर रहे हैं कि सोम स्वयं स्वादिष्ट इत्यादि है और हमने यह प्रकट करने का यत्न किया है कि सोम पदार्थों को स्वादिष्ट इत्यादि बनाता है।

---

१. द्रष्टव्य—लेखक की रचना 'वेदों में सोम'।

हमने सोम के जो अर्थ समझे हैं यह उसके अनुरूप ही है। हमने बताया है कि सोम आपः हैं, जो सूर्य से निरन्तर, धाराओं के रूप में पृथिवी पर आ रहे हैं। पृथिवी पर ये वनस्पतियों में जाकर बैठ जाते हैं। वे वनस्पतियों को स्वादिष्ट इत्यादि कर देते हैं। इस कारण सायण ने जो 'भवति' शब्द जोड़ा है, उससे 'करोति' अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

जिस प्रकार हमने अर्थ किया है उससे विभक्ति-विपर्यय की भी आवश्यकता नहीं होती। सायण ने भी वैसी ही भूल की है जैसे स्वामी दयानन्द से हुई है। स्वामीजी ने इन्द्र देवता का अर्थ परमात्मा लगा लिया था और सायण ने सोम के अर्थ किसी प्रकार के क्षुप के पत्तों का स्वरस मान लिया है।

मन्त्रों के देवताओं का अर्थ वेदमन्त्रों से ही विदित किया जाना चाहिए। जब एक बार देवता का अर्थ समझ में आ जाये तो फिर सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में उस देवता पद का वही अर्थ होगा। हम यह मानते हैं कि वेद महाकवीश्वर के कहे ज्ञान के ग्रन्थ हैं। इस कारण उसमें परस्पर-विरोधी अर्थ नहीं हो सकते।

सब निरुक्ताचार्यों का मत है कि वेदार्थ करने से पूर्व देवता का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। तदनन्तर मन्त्र के अर्थ की खोज करनी चाहिए। देवता मन्त्र में कहे विषय को बताता है । अतः मन्त्र में आये शब्दों के अर्थ और निर्वचन उस विषय के अनुकूल ही होते हैं।

: ५ :

निघण्टु

इस अध्याय में हम निघण्टु के विषय में कुछ बतायेंगे।

यास्क का कथन है—

समाम्नायः समाम्नातः। स व्याख्यातव्यः।
तमिमं समाम्नायं निघण्टवः इत्याचक्षते॥ —१-१

अर्थ—(परमात्मा से प्राप्त) शब्दों की सूची है। इसकी यहाँ व्याख्या करनी है। इस सूची को 'निघण्टव' कहते हैं।

इसका यह अभिप्राय हुआ कि वैदिक शब्दों की एक सूची है जिसका नाम निघण्टु है। क्योंकि यह सूची कई खण्डों में है, इसलिए इसको बहुत सूचियाँ माना जाता है। इन सबके लिए जो शब्द प्रयुक्त किया जाता है वह 'निघण्टव' है। यह निघण्टु शब्द का बहुवचन है।

अपने ग्रन्थ निरुक्त में इसकी व्याख्या करते हुए यास्क लिखता है—

निघण्टवः कस्मात्? निगमा इमे भवन्ति। छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः। ते निघण्टव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः।

अर्थ—निघण्टव किस कारण है? वेदमन्त्रों के शब्द चुन-चुनकर संग्रह किये गये हैं। ज्ञान कराने के कारण ये निघण्टव कहे जाते हैं। ऐसा उपमन्यु का पुत्र कहता है।

निघण्टु नाम की शब्द-सूची जो आजकल मिलती है और इस नाम से प्रचलित है, उसकी व्याख्या यास्क ने अपने निरुक्त ग्रन्थ में की है। इस कारण कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि इस सूची का संकलनकर्ता यास्क ही है। हम ऐसा नहीं समझते। यास्क का यह कहना कि शब्द-सूची प्राप्त हुई है, इस बात का सूचक है कि सूची यास्क से पूर्व भी विद्यमान थी।

जो भी हो, हम इस सूची को वह मान्यता नहीं देते। अन्य भाष्यकार सायण आदि, यहाँ तक कि स्वामी दयानन्द भी, यत्र-तत्र इस सूची से सहायता

लेकर, इसको मान्यता देते हैं।

यह सूची वर्तमान में प्रचलित शब्दकोषों की भी स्थानापन्न नहीं हो सकती। वैसे तो हम इन शब्दकोषों को भी अन्तिम प्रमाण नहीं मानते। शब्दकोष तो भाष्यकारों द्वारा किये अर्थों का संग्रह-मात्र होता है। जब भाष्यकारों के अर्थ ही विवाद के विषय हों तो शब्दकोष भी विवाद का विषय बन जाता है।

वेदार्थ करने में निर्वचन की महिमा अन्य सब साधनों से ऊपर समझी जाती है। निघण्टु भी वेदार्थ करने का एक साधन-मात्र है।

निर्वचन के मुख्य-मुख्य नियम हमने इस पुस्तक के आरम्भ में बता दिये हैं। अतः हमारा मत है कि निघण्टु भी अन्य शब्दकोषों की ही भाँति अर्थ करने में निर्णायक नहीं हो सकता।

तदपि, जब सायणादि भाष्यकार इसको महत्ता देते हैं तो हम भी पाठकों को इसका कुछ तो ज्ञान करा देना आवश्यक समझते हैं। हम चाहते हैं कि पाठक इतना तो जान ही लें कि निघण्टु क्या है और किस प्रकार वेदार्थ करने के लिए इसका प्रयोग किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त हम यह भी बता देना चाहते हैं कि इसमें क्या दोष हैं और यह किस प्रकार अनर्थ भी कर सकता है।

सम्प्रति जो भी निघण्टु जिस रूप में उपलब्ध है वह पाँच अध्यायों का ग्रन्थ है। उसके प्रत्येक अध्याय में अनेक खण्ड हैं।

निघण्टु के प्रथम अध्याय में दस खण्ड हैं। द्वितीय अध्याय में २२ खण्ड हैं और तृतीय अध्याय में ३० खण्ड हैं।

ये प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक काण्ड कहाते हैं। चौथा अध्याय 'नैगम' और पाँचवाँ अध्याय 'दैवत' काण्ड कहलाता है।

प्रत्येक खण्ड के नाम पहले तीन अध्यायों में पर्याय अर्थवाचक कहे जाते हैं। इन प्रथम तीन अध्यायों के प्रत्येक खण्ड के नीचे उसके पदों का अर्थ लिखा रहता है।

उदाहरणार्थ प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड के नीचे लिखा है—

पृथिवी नामधेयानि।

अर्थात् इस खण्ड में उल्लिखित सब निगम पृथिवी अर्थ में हैं।

यह भी कहा जाता है कि खण्ड में आये शब्द परस्पर पर्यायवाचक भी होते हैं।

निघण्टु के चतुर्थ और पंचम अध्याय नैघण्टुक नहीं हैं, अर्थात् इन

अध्यायों के खण्डों में आए निगमों का कोई नाम नहीं है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो यही कि वे एकार्थवाचक नहीं हैं।

निघण्टु के इन अध्यायों की व्याख्या करते हुए यास्क लिखता है—

एकार्थमनेकशब्दमित्येतदुक्तम्। अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः अनवगतसंस्कारांश्च निगमान्। तदैकपदिकमित्याचक्षते।
—यास्क० ४-१

निघण्टु (निघण्टु काण्ड) में एक अर्थवाले अनेक शब्दों के संग्रह ऊपर कहे गये हैं। अब आगे अनेक अर्थवाले एक शब्द कहेंगे।

यास्क का यह कथन भ्रमोत्पादक है। निघण्टु के प्रथम तीन अध्यायों में जो कुछ बताया गया है, उससे स्पष्ट है कि उन अध्यायों में भी ऐसे अनेक शब्द हैं जो एकार्थवाचक नहीं हैं।

उदाहरण के रूप में एक शब्द है 'स्वसराणि'। निघण्टु में ही इसके तीन अर्थ बताये गये हैं। वे तीन हैं—(१) अह नामों में, (२) गृह नामों में, और (३) पद नामों में।

इसी प्रकार एक अन्य शब्द है 'सुपर्णः'। इसके दो अर्थ कहे गये हैं। इस प्रकार अनेक प्रचलित पद निघण्टु में मिलते हैं जोकि किसी नियम में आबद्ध नहीं हैं।

सुपर्णः शब्द निघण्टु में दो अर्थों में आया है—(एक) रश्मि अर्थ में और (दो) अश्व अर्थ में। परन्तु ऋ० १-१६४-२० में यह गतिशील 'आत्म-तत्त्व' के अर्थों में आया है।

एक अन्य उदाहरण भी दिया जा सकता है। निरुक्त १, निघण्टु १-१ में एक शब्द आया है 'रिपः'। निघण्टु में यह पृथिवी नामों में आया है। परन्तु मोनियर विलियम्स के शब्दकोष में इसके अर्थ लिखे हैं—शत्रु, धोखेबाज, हानि पहुँचानेवाला।

इस प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। निघण्टु में किसी खण्ड में ये शब्द पर्यायवाचक तो कहे ही गये हैं, परन्तु उसके अन्यान्य अर्थ भी हो सकते हैं।

अतः पाठकों से हमारा यही निवेदन है कि वेदों के शब्दों के ठीक-ठीक अर्थ करने में ये निघण्टु पूर्णतया सहायक सिद्ध नहीं होते।

मुख्य बात है धातु की, जिससे शब्द की व्युत्पत्ति होती है। यह भी यास्क ने ही कहा है कि शब्द में यदि एक अंश भी धातु का दिखाई दे तो

उसके अर्थ उस धातु के अनुसार ही करने चाहिएँ। धातु के अतिरिक्त पूर्वापर सम्बन्ध, मन्त्र के देवता और तर्क का भी आश्रय लिया जा सकता है।

यास्क और सायण ने भी मन्त्र का अर्थ करने में इस निघण्टु का बहुत आश्रय लिया है। उनके मन्त्रार्थ करने के एक-दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करना समीचीन होगा।

एक मन्त्र है—

आ धावता सुहस्त्यः शुक्रा गृभ्णीत मन्थिना।
गोभिः श्रीणीत मत्सरम्॥ —ऋ० ९-४६-४

इस मन्त्र का देवता पवमाना सोम है। पवमाना सोम का अर्थ है पवित्र होता हुआ सोम (आपः)।

यास्क ने इस शब्द को गो का अर्थ दिया है। मन्त्र की दूसरी पंक्ति में गो शब्द आया है। यास्क ने इस मन्त्र में केवल इतना ही पद दिया है—

गोभिः श्रीणीत मत्सरम्।

इतने पद का ही अर्थ करते हुए यास्क लिखता है—

इति पयसः। मत्सरः सोमः मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः। मत्सर इति लोभनाम। अभिमत्त एनेन धनं भवति। पयः पिबतेर्वाप्यायतेर्वा। क्षीरं क्षरतेः। घसेर्वेरो नामकरणः उशीरमिति यथा। नि० २-५

अर्थ—गो शब्द दुग्ध के लिए प्रयुक्त हुआ है। मत्सर का अर्थ है सोम। यह तृप्त करनेवाली मन्द धातु से व्युत्पन्न है। मत्सर लोभ का भी वाचक है। यह मनुष्य को सम्पत्ति के लिए पागल बना देता है। पयस् (दुग्ध) पा (पीना) क्षीर पद क्षरति से, घसि से अथवा ईर प्रत्यय है। उशीर जैसे क्षीर है।

इसमें ध्यान देने योग्य बात है गोभिः। गो और पृथिवी पर्याय समझे गये हैं। उसका कारण यह है कि दोनों गति करते हैं। गोभिः का अर्थ गाय का अर्थ किया है—गाय से प्राप्त होनेवाला दूध।

इस मन्त्र में यास्क ने गवे शब्द का निर्वचन ठीक ही किया है।

सायण-भाष्य का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥
—ऋ० १-१६४-२१

इस मन्त्र का देवता है विश्वे देवाः। मन्त्र-संख्या २०,२१ और २२ का

देवता है 'जीव परमात्मानौ'।

पदच्छेद—यत्र सुपर्णाः अमृतस्य भागम् अनिमेषम् विदथा अभि स्वरन्ति। इनः विश्वस्य भुवनस्य गोपाः सः मा धीरः पाकम् अत्र आ विवेश॥

सायण इसके अर्थ इस प्रकार करता है—

यत्र आदित्यमण्डले सुपर्णाः सुपतनाः (शोभनगमना रश्मयः) अमृतस्य (उदकस्य) भागं (भजनीय अंशम् आदाय) अनिमेषम् (अनवरतं) विदथा (वेदनेन ज्ञानेन अस्माभिरेवं कर्तव्यमिति बुद्धया) अभिस्वरन्ति (अभिप्रापयन्ति)।

विश्वस्य भुवनस्य भूतजातस्य इनः स्वामी तथा तस्यैव गोपाः गोपायिता रक्षिता। अयम् आदित्यः सः परमेश्वरः धीरः धीमान् प्राण्यनुग्रहबुद्धियुक्तः सन् मा मां पाकं पक्तव्यम् अपक्वमज्ञम् अत्र अस्मिन् स्वकीयमण्डले आ विवेश प्रवेशयति। अत्र अस्मदीये देहे वा नियामकतया प्रविष्टः।

इसका हिन्दी-अनुवाद है—

आदित्यमण्डल में भली प्रकार उड़नेवाली तरंगें उदक का सेवन करने योग्य अंश को प्राप्त कर निरन्तर ज्ञान से अर्थात् बुद्धि से प्राप्त कराती हैं।

दूसरी पंक्ति का अर्थ है—

सम्पूर्ण से उत्पन्न जगत् का स्वामी एवं रक्षक आदित्य है। यह आदित्य वह परमेश्वर धीमान् प्राण बुद्धियुक्त है। मुझ अपक्व के पक्वबुद्धि हुए को इस अपने मण्डल में प्रविष्ट कराओ।

ये अर्थ पूर्णतः ठीक नहीं, अंशतः ठीक हैं।

हमारी प्रथम आपत्ति यह है कि इस सूक्त के २०,२१,२२—इन तीन मन्त्रों में एक-दूसरे के उपरान्त सुपर्ण शब्द आया है। इन तीनों मन्त्रों में इस शब्द के एक ही अर्थ होने चाहिएँ।

सायण ने मन्त्र-संख्या बीस का अर्थ करते हुए लिखा है—

अत्र लौकिकपक्षिद्वयदृष्टान्तेन जीवपरमात्मानौ स्तूयेते।

अर्थात् लौकिक दो पक्षियों का दृष्टान्त देकर यहाँ पर आत्मा और परमात्मा के गुणादि का वर्णन है।

हमारा कथन है कि यदि मन्त्र-संख्या बीस में सुपर्ण का यह अर्थ है तो मन्त्र इक्कीस में भी इसी प्रकार होना चाहिए। किन्तु सायण ने यहाँ निघण्टु

का अन्धानुकरण किया है। उसने पूर्वापर का विचार ही नहीं किया।

यहाँ पर 'यत्र' का अर्थ 'इस पृथिवी-मण्डल पर' अधिक उपयुक्त है।

सायण ने अमृतस्य का अर्थ करने में पुनः निघण्टु का ही अनुकरण किया है। तदनुसार इसके अर्थ किये हैं 'उदकस्य'। उदक का अर्थ जल भी है और एक सौ से अधिक अन्य अर्थ भी उदक शब्द के होते हैं।

यास्क ने उदक के अर्थ किये हैं जो शरीर को चिपक जाय। शरीर को तो अनेक वस्तुएँ चिपक सकती हैं, अर्थात् अमृत का उदक अर्थ करके उसके भाव को स्पष्ट नहीं किया गया है।

हमारी दृष्टि में अमृत का सामान्य अर्थ अमर लोक ही युक्तियुक्त है। अतः हमारा मत है कि सायण ने न तो पूर्वापर का विचार किया है और न ही बुद्धिगम्यता का विचार किया है। हम इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

यत्र सुपर्णाः विदथा अमृतस्य भागं अनिमेषं अभिस्वरन्ति। अत्र विश्वस्य भुवनस्य गोपाः इनः आ विवेश सः धीरः मा पाकम्।

इस संसार में आत्माएँ ज्ञानवान् होकर तुरन्त इच्छा करती हैं।

ऐसे अवसर पर [सुपर्ण] (भुवन का स्वामी) मुझ धीर बुद्धिमान् को आकर प्रवेश करता है।

परमात्मा आकर प्रवेश करता है का अभिप्राय है कि परमात्मा उसको अमृतलोक में प्रविष्ट करा देता है। 'आ विवेश' के अन्तणोतण्यर्थ बनते हैं—चारों ओर से प्रवेश दो।

उपरिलिखित इन तीनों मन्त्रों के अर्थ एक-समान ही हैं। पहले मन्त्र में कहा है कि इस लोक में प्रकृतिरूपी वृक्ष पर दो आत्मतत्त्व स्थित हैं। एक इस वृक्ष के पके फल खाता है और दूसरा केवल साक्षीरूप देखता-मात्र है।

यह संसार में वस्तुस्थिति का वर्णन किया है।

दूसरे मन्त्र में कहा गया है कि जब आत्माएँ ज्ञानवान् हो जाती हैं तो वे माँग करने लगती हैं कि उनको अमृत पद मिले। तब सब भुवन का पालक बुद्धिमान् स्वामी परिपक्व आत्मा को अमृतलोक में प्रवेश देता है।

इस शृंखला के तीसरे मन्त्र का अर्थ बनता है कि जो आत्मा इस संसार में पके फल खाता है अर्थात् इस संसार का भोग करता है और सन्तान उत्पन्न करता है, वह उस परमात्मा को नहीं पहुँच सकता।

हम समझते हैं कि बिना विचार किये निघण्टु का प्रयोग सायण को

मिथ्या मार्ग पर ले गया है।

इस विषय पर एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है।

यास्क अपने निरुक्त ग्रन्थ में 'गो' शब्द का अर्थ समझाने के लिए एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करता है—

ते सोमादो हरी इन्द्रस्य निंसतेंऽशुं दुहन्तो अध्यासते गवि।
तेभिर्दुग्धं पपिवान्त्सोम्यं मध्विन्द्रो वर्धते प्रथते वृषायते॥

—ऋ० १०-९४-९

यास्क ने इस मन्त्र के केवल इस पद पर विवेचना की है—

अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि।

इसका अर्थ किया है—**इत्यधिषवण चर्मणः अंशुः शमष्टमात्रो भवति। अननाय शं भवतीति वा। चर्मचरतेर्वा उच्चृत्तं भवतीति वा।**

अथापि चर्म च श्लेष्मा च। —यास्क २-५

अर्थ—सोम का दोहन करते हुए गोचर्म पर बैठते हुए। (बैठने के कथन से गवि का अर्थ गोचर्म कर दिया है) अंशु अर्थात् सोम। यह अर्थ इस कारण किया है क्योंकि सोम-पान करने से 'शं' आनन्द होता है। चर्म चर् धातु से। चर् का अर्थ है गति करनेवाला। शरीर से काटा जाता है इस कारण चर् से चर्म है।

इसके अतिरिक्त गो का अर्थ स्नायु और श्लेष्मा भी होता है।

हम इस निर्वचन को अव्यापक बुद्धि का परिणाम मानते हैं।

बैठने से यदि चर्म की ओर ध्यान गया है तो पृथिवी की ओर क्यों नहीं गया? पृथिवी पर भी तो बैठा जाता है। इसी प्रकार अंशु का अर्थ सोम भी अशुद्ध है। सोम का अर्थ किसी प्रकार की जड़ी-बूटी नहीं है।[१] कुछ भी खाद्य पदार्थ खाने से सुख और बल प्राप्त होता ही है।

इसका सरल अर्थ यह होना चाहिए था कि पृथिवी पर रहते हुए सोम पान करते हैं।

यास्क ने सोम का अर्थ किया है अंशु। यह अर्थ भी ठीक नहीं है। सोम से अंशु अभिप्राय है, आनन्द देनेवाले के विचार से नहीं।

सबसे मुख्य बात यह है कि मन्त्र के देवता के विषय में भी गड़बड़ की है। ऋग्वेद १०-९४ का देवता अर्थात् विषय ग्रावाणः है।

---

१. इसकी विस्तृत व्याख्या के लिए देखें लेखक की रचना 'वेदों में सोम'।

ग्रावाणः के सामान्य संस्कृत भाषा में अर्थ पत्थर किये जाते हैं। वेद-भाषा में तो धातु से अर्थ किया जाता है। यद्यपि कोषकार मोनियर विलियम्स ने यह नहीं बताया कि ग्रावाणः किस धातु से व्युत्पन्न है, तदपि शब्द का धातु तो है। हमारे विचार में यह शब्द 'गृ' धातु चुरादिगण से व्युत्पन्न है। इसका अर्थ है ज्ञान प्राप्त करना।

मोनियर विलियम्स ने ग्रावाण शब्द का अर्थ 'प्रवर' किया है। हमारे विचार से ग्रावाणः के अर्थ हैं वह व्यक्ति जो माननीय अथवा सम्मानित है।

ऋ० १०-९४ सूक्त का विषय है 'प्रवर', अर्थात् श्रेष्ठ अथवा विद्वान् मनुष्य। ऋ० १०-९४-९ मन्त्र, जिसकी हम विवेचना कर रहे हैं, का विषय विद्वान् मनुष्य है। यहाँ ग्रावाणः के यही अर्थ ठीक बैठते हैं।

मन्त्र-संख्या १०-९४-९ के अर्थ तो हम बाद में करेंगे, पहले हम यह देखना चाहेंगे कि सूक्त के देवता का अर्थ हमने ठीक भी किया है अथवा नहीं। इसके लिए हम इस सूक्त के कुछ मन्त्रों का अर्थ करके देखना चाहते हैं कि ग्रावाणः के अर्थ हम ठीक कर रहे हैं अथवा कि नहीं।

हम इस सूक्त के कुछ मन्त्रों का अर्थ नीचे दे रहे हैं।

प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः।
यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः॥

—ऋ० १०-९४-१

अन्वय—एते ते वदन्तु वयं वाचं प्र वदाम प्र वदद्भ्यः ग्रावभ्यः वदत। यत् अद्रयः आशयः पर्वताः सोमिनः इन्द्राय साकं श्लोकं घोषं भरथ॥

अर्थ—भली-भाँति कहते हुए हम भली-भाँति वाणी को कहें। इस प्रकार कहे जाने पर भली-भाँति कहे जाने से ग्रावाणः (विद्वान् जन) कहते हैं। जब आदरणीय धीर शीघ्र कहनेवाले सोम से युक्त इन्द्र के लिए धारण करते हैं।

इस मन्त्र में यह कहा गया है कि जब सामान्य लोग और हम विद्वान् लोगों से सभ्य भाषा में अपनी कठिनाइयाँ कहते हैं तो वे विद्वान् लोग जो धीर और आदरणीय हैं सोम से युक्त इन्द्र को कहते हैं।

यहाँ हमने पर्वताः का अर्थ धीर-जन किया है। यह ग्रावाणः अर्थात् विद्वान् लोगों के लिए कहा गया है। आदरणीय भी इन्हीं को कहा गया है।

सूक्त का अगला मन्त्र है—

एते वदन्ति शतवत्सहस्रवदभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः।
विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत॥

—ऋ० १०-९४-२

अन्वय—शतवत् सहस्रवत् हरितेभिः आसभिः अभि क्रन्दन्ति एते वदन्ति। सुकृतः ग्रावाणः सुकृत्यया अद्यं हविः होतुः पूर्वे चित् आशत॥

अर्थ—सैकड़ों-हजारों जैसे पीतमुखों से चीख-पुकार करते हैं। तब ये विद्वान् जन कहते (उपदेश देते) हैं। अच्छे कर्म करनेवाले विद्वान् अपने अच्छे किये हुए कर्मों से खाने योग्य यज्ञरूप हवि को पहले प्राप्त करते हैं॥

इस मन्त्र में कहा गया है कि सैकड़ों-सहस्रों भूखे-प्यासे चीख-पुकार करते हैं। वे अन्न के लिए पुकारते हैं। विद्वान् उनको उपदेश करते हैं और विद्वानों को उनके सुकृत कामों के प्रतिकार में यज्ञ में से हवि [खाने योग्य]. पहले मिलती है।

किसी भी कार्य में विद्वानों को उस कार्य की उपलब्धि से निर्वाह-योग्य पहले मिलता है। यह उनके द्वारा किये गये भले कामों के लिए है।

इसी सूक्त का तृतीय मन्त्र है—

एते वदन्त्यविदन्नना मधु न्यूङ्खयन्ते अधि पक्व आमिषि।
वृक्षस्य शाखामरुणस्य बप्सतस्ते सुभर्वाः वृषभाः प्रेमराविषुः॥

—ऋ० १०-९४-३

अन्वय—एते अरुणस्य वृक्षस्य शाखां मधु आमिषि बप्सतः वदन्ति। ते सुभर्वाः वृषभाः अना अविदन् नि ऊङ्खयन्ते प्र ईम् अराविषुः वदन्ति॥

अर्थ—सजग हुई प्रकृति की शाखाओं के मीठे फल को मांसल शरीरों वाले भोगते हुए कहते हैं। वे श्रेष्ठ जन खानेवाले बल प्राप्त करते हुए उस परमात्मा का बखान करते हैं और आराधना करते हैं।

हमने इस सूक्त के प्रथम तीन मन्त्र देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि ग्रावाणः का अर्थ विद्वान् अथवा माननीय व्यक्ति ही हैं।

अब हम उस मन्त्र (ऋ० १०-९४-९) का भी अर्थ कर देना चाहते हैं जिसमें के अंश के अर्थ में यास्क ने—गाय के चमड़े पर बैठकर सोम पीने की बात लिखी है। मन्त्र ऊपर दिया जा चुका है। यहाँ केवल उसके अर्थ ही दिये जा रहे हैं।

अन्वय—ते सोमादः हरी इन्द्रस्य निंसते गवि अंशुं दुहन्तः अध्यासते। तेभिः इन्द्रः दुग्धं सोम्यं मधु पपिवान् वर्धते प्रथते वृषायते।

अर्थ—वे सोम से युक्त इन्द्र के अश्वों की रश्मियों में अंशु सोम को दुहते हुए स्थित हैं। उनके द्वारा इन्द्र दुहे गये सोम से युक्त मधु पीता हुआ वृद्धि पाता है, विस्तार पाता है और सुखकारी होता है।

इस मन्त्र में भी ग्रावाणः विद्वानों के विषय में ही कहा गया है। कहा है कि इन्द्र है प्रकृति की त्रिगुणात्मक शक्ति। इसमें दो शक्तियाँ हरी अर्थात् शक्तिशाली अश्व कहे जाते हैं। वे अश्व रश्मियों से युक्त होते हैं। कहा है कि विद्वान् लोग इन दो शक्तियों से इन्द्र के अधीन सोम के अंश को दुहते हैं और उसे पीते हुए पृथिवी पर स्थित हैं।

ये विद्वान् सोम से युक्त इन्द्र से दुहे हुए सोम का पान करते हुए वृद्धि पाते हैं—विस्तार पाते हैं और सुख प्राप्त करते हैं।

यह बताया गया है कि इन्द्र त्रिगुणात्मक शक्ति है। इनमें से दो तो हैं मित्र और वरुण। ये अपनी ही रश्मियों में लिप्त होते हैं। इन रश्मियों के लिए 'गवि' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ यास्क ने गाय का चमड़ा किया है।

इसी सूक्त का इससे अगला मन्त्र भी यदि देखा जाय तो बात और भी स्पष्ट हो जायेगी।

मन्त्र इस प्रकार है—

वृषा वो अंशुर्न किला रिषाथनेळावन्तः सदमित्स्थनाशिताः।
रैवत्येव महसा चारवः स्थन यस्य ग्रावाणो अजुषध्वमध्वरम्॥

—ऋ० १०-९४-१०

अन्वय—अंशुः वः वृषा न रिषाथन किल इलावन्तः सदमित् आशिताः स्थन। रैवत्येव महसा चारवः स्थन ग्रावाणः यस्य अध्वरं अजुषध्वम्॥

अर्थ—सोम तुमको सुख देनेवाला हो। वह शीर्ण न हो, सदा अन्न युक्त हो और खाने योग्य हो। धनवानों की भाँति महान्—तेजयुक्त कल्याण करनेवाला हो। हे विद्वानो! जिसके यज्ञ को (तुम) सेवन करते हो।

विद्वान् धनवानों के यज्ञ में सहायता करते हैं। अतः सोम भी यज्ञ करने वाला ही हो।

सायण तथा यास्क आदि मध्यकालीन विद्वानों की कठिनाई यह रही है कि कई सामयिक कारणों से उनका सामान्य ज्ञान बहुत ही क्षीण हो गया था। इसके साथ ही वे वेदार्थ करने की प्रक्रिया को जानते हुए भी अपने अल्प सांसारिक ज्ञान के कारण उसके ठीक अर्थ नहीं बैठा सके।

ऋ० १०-९४-९ मन्त्र का अर्थ करने में तो देवता का अर्थ ही नहीं समझा गया। ग्रावाणः वेदभाषा में विद्वान् भी होता है, यह वे लोग नहीं जान सके।

: ६ :

वेदार्थ की प्रक्रिया

किसी भी मन्त्र का अर्थ करने से पूर्व उसका पदच्छेद कर लेना आवश्यक है। प्रत्येक पद, स्वर, प्रकृति, संस्कार और प्रत्यय के साथ ही ऐसा होता है। इसे पद-पाठ कहते हैं।

उदाहरणार्थ निम्न मन्त्र है—

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः।
तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥ —ऋ० १-२-१

इस मन्त्र का पद-पाठ होगा—

वायो आ याहि दर्शत इमे सोमाः अरंकृताः।
तेषाम् पाहि श्रुधी हवम्॥

मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा पद-पाठ नहीं किये गये। ये कालान्तर में विद्वानों द्वारा किये गये हैं। वेद-भाष्यों में इनका उल्लेख होता है। कभी-कभी पद-पाठ किसी मन्त्र के भाव को अस्पष्ट अथवा विपरीत करनेवाला भी हो सकता है। इस कारण पद-पाठ करने में बहुत सावधानी का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि अर्थ का मुख्य आधार ये पद-पाठ ही होते हैं।

सायणादि भाष्यकारों ने परम्परागत पद-पाठ स्वीकार किये हैं। वे ही पद-पाठ हमने भी स्वीकार किये हैं। तदपि, यदि युक्ति और प्रमाण अनुकूल न हों तो हम भाष्यकार का यह अधिकार मानते हैं कि वह अपना पद-पाठ स्वयं तैयार कर ले। इसमें अनिवार्य शर्त यह है कि अर्थ उन नियमों के अनुसार होने चाहिएँ जो हमने अपनी इस पुस्तक के आरम्भ में दिये हैं। यदि पद-पाठ उन नियमों का विरोध करता है तो वह मान्य नहीं हो सकता।

ऋग्वेद का पद-पाठ शाकल्य का किया हुआ माना जाता है। यह विद्वान् त्रेता युग के अन्त अथवा द्वापर युग के आरम्भ में हुआ था। अधिकांश भाष्यकार इसी के पद-पाठ को मान्यता देते हैं।

स्वर

जैसाकि हम बता आये हैं कि पद-पाठ स्वर, प्रकृति आदि से युक्त होते हैं। इनमें से हम स्वर के विषय में समझाने का यत्न कर रहे हैं। मन्त्रों में वर्णों के ऊपर और नीचे खड़ी अथवा आड़ी रेखाएँ बनी होती हैं। ये स्वरों के चिह्न होते हैं।

मन्त्र उच्चारण करते समय उच्चारण-ध्वनि को ऊँची-नीची करने को स्वर कहते हैं। ऊँची-नीची ध्वनियाँ प्रसारित होने वाली शब्द-तरंगों को कहते हैं। इन तरंगों के विचार से संगीत में मुख्य स्वर सात होते हैं। सुकोमल तीव्र के विचार से पाँच स्वर और भी माने गये हैं।

स्वरों में शब्द-तरंगों को यदि बढ़ाते जायें तो एक स्थान पर आकर आरम्भिक स्वर के समान ही स्वर सुनाई देने लगे तो इसको सम स्वर कहते हैं। दो सम स्वरों के बीच की तरंगों के स्वर सात माने जाते हैं। इस कारण दो समों के बीच के स्वर-संग्रह को सप्तक कहते हैं। यह इस कारण कि दो समों के बीच के तरंग-अन्तर को सात भागों में बाँटा गया है।

प्राचीन काल में कुछ संगीतज्ञ-जन एक सप्तक को चौबीस भागों में बाँटते थे। इसमें बारह को तो स्वर कहते हैं और शेष बारह को श्रुतियाँ कहते हैं।

यह संगीत विद्या की बात है। परन्तु वेद-पाठ करनेवाले पाठ करते हुए केवल तीन ही स्वरों का प्रयोग करते हैं। इनके नाम हैं उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। यह स्वर-भेद शब्द-तरंगों में भेद का सूचक है, ध्वनि पर बलाबल का सूचक नहीं।

इसी कारण मन्त्रों के ऊपर सूक्त के आरम्भ में षड्ज-गान्धार आदि स्वर उल्लिखित होते हैं। सप्तक का वह स्वर मन्त्र का उदात्त स्वर होता है। उसके अनुसार अनुदात्त उससे नीचे और स्वरित दोनों के बीच में माना जाता है। सूक्त पर लिखे स्वर का अभिप्राय मन्त्र का उदात्त स्वर होता है।

इस विज्ञान में हम निम्न बातों पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं—

१. स्वरों के चिह्न वर्णों पर ही होते हैं। वर्ण दो प्रकार के हैं। एक प्रकार को स्वर कहते हैं। इनको व्याकरण में अच् कहते हैं, यथा अ, आ, इ इत्यादि। ये स्वतः उच्चारण योग्य हैं। दूसरे वर्ण व्यंजन कहे जाते हैं, यथा क्,

ख् इत्यादि। ये किसी स्वर की सहायता के बिना बोले नहीं जा सकते।

वेदमन्त्रों में जो खड़ी तथा आड़ी रेखाएँ होती हैं वे स्वरों [अर्थात् अचों] पर ही होती हैं। ऐसा इस कारण है कि केवल स्वर ही उच्चारण किये जा सकते हैं। व्यंजन तो स्वर अर्थात् अच् के साथ ही उच्चारित होता है।

२. वेद में केवल तीन प्रकार के स्वर होते हैं। इसमें अष्टाध्यायी १-२-२९, ३०, ३१ का प्रमाण है।

उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः ॥

अर्थात् ऊँचे स्वर को उदात्त कहते हैं, नीचे स्वर को अनुदात्त कहते हैं तथा इन दोनों के सम्मिश्रण को स्वरित कहते हैं।

३. ऊँचे-नीचे स्वरों से मन के भाव प्रकट होते हैं, इस कारण जैसा अपना इष्ट हो, वैसा ही स्वर का चिह्न होता है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसा वक्ता का अर्थ प्रकट करने का विचार हो वैसा ही वर्ण का स्वर पद में होना चाहिए।

यह बात यज्ञ-कर्म में मन्त्रोच्चारण के विषय की है। परन्तु अर्थ करते समय तो वर्णों पर रेखाएँ देखकर अर्थ किये जाते हैं।

४. इस कारण वेद-मन्त्रार्थ करते समय स्वरों के चिह्नों का ध्यान रखना चाहिए। जिस वर्ण पर किसी प्रकार का स्वर-चिह्न न हो, वह या तो उदात्त होगा अथवा 'एकश्रुति अनुदात्त' होगा। एकश्रुति अनुदात्त का अभिप्राय है कि सब स्वर अनुदात्त की ध्वनि में सुनाई दें।

५. स्वरों के चिह्न कल्पित हैं, क्योंकि मन्त्रोच्चारण करनेवाले को जैसा अभीष्ट हो वैसा उच्चारण करता है। ये चिह्न उच्चारण करनेवाले की अर्थ करने की गति पर निर्भर करता है। परन्तु अर्थ तो निर्वचन करने के उन नियमों से ही करने चाहिएँ जो हमने पुस्तक के आरम्भ में बताये हैं।

सामवेद में उदात्तादि स्वरों के चिह्न-रेखाएँ नहीं होतीं। वहाँ अंक '१', '२' और '३' आदि होते हैं।

६. स्वरित दो प्रकार के हैं। एक, जो समान पद में उदात्त से परे होते हैं। ये संधिज कहाते हैं अर्थात् इनका जन्म संयोग से हुआ है। संयोग के कारण ये स्वरित हैं। दूसरे, जो समान पद में अनुदात्त से परे हों अथवा 'क' व इत्यादि एकाध पदों में स्वतन्त्र रूप से हों। ये जात्य कहाते हैं। इसका अभिप्राय है कि ये अपने-आप में ही स्वरित हैं। ये महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

७. स्वरित अथवा उदात्त चिह्नयुक्त वर्ण के पहले, जो एक अथवा

अनेक वर्ण किसी भी चिह्न से रहित हों उनको उदात्त जानना चाहिए।

८. पद के किसी वर्ण पर उदात्त इत्यादि चिह्न से अर्थ पर प्रभाव इस कारण पड़ता है कि बोलने के ढंग से भाव में अन्तर आ जाता है।

उदाहरण के रूप में वैंकट माधव अपने ऋग्वेद-भाष्य में कुछ पदों के अर्थ स्वरों के कारण बताता है। उदाहरणार्थ—

स्वरसहित पद	**अर्थ**
जठरः	अग्निः
जठरः	उदर जिसमें जठराग्नि रहती है।
यमः	येन गच्छति (जिससे जाता है)।
यमः	वैवस्वतः (सूर्य का पुत्र)।
सत्यम्	नियमानुसार।
सत्यम्	दारिद्र्य (निर्धनता)।
ज्येष्ठः	प्रशस्य (स्तुति के योग्य)।
ज्येष्ठः	आयु में ज्येष्ठ।

९. जब पदों में समभाव हो, तब स्वरों के स्थान-भेद से अर्थ-भेद हो जाता है। यथा—

ब्राह्मणग्रामं गच्छ	हे ब्राह्मण ! गाँव को जा।
ब्राह्मणग्रामं गच्छ	ब्राह्मण अपने गाँव को जाय।
ब्राह्मणग्रामं गच्छ	जहाँ ब्राह्मण लोग रहते हैं उस गाँव को जाओ।

इन समासों को हिन्दी में तो विराम देकर तथा प्रत्यय लगाकर इनका भाव प्रकट किया जाता है। संस्कृत अथवा वैदिक भाषा में ऐसे समासों में विभक्ति इत्यादि का प्रयोग नहीं किया जाता। इस कारण ऋषि के भाव को समझने के लिए स्वर-विधान एक साधन है। यह संक्षेप में कहने तथा लिखने के लिए किया जाता है। तदपि यह समझ लेना चाहिए कि यह केवल साधन ही है।

एक मन्त्र का उदाहरण देकर हम स्वरों का अभिप्राय समझाना चाहते हैं।

यह मन्त्र (ऋ०-१-२-१) हमने इस अध्याय के आरम्भ में दिया है। इसका पद-पाठ इस प्रकार है—

वायो आ याहि दर्शत। इमे सोमाः अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्।

'दर्शत वायो' में 'दर्शत' पूर्ण पद अनुदात्त है। 'वायो' में यो का ओ अनुदात्त है। अतः 'दर्शत वायो' अनुदात्त स्वर में पढ़ा और अर्थ किया जाना

चाहिए।

यह पद सम्बोधन भी है। इस सबका अभिप्राय है कि यह सम्बोधन अति विनम्र भाव में किया गया है। इसका अर्थ हुआ कि हे वायो ! हमारा अतिविनम्र निवेदन है।

यह विनम्रता के भाव को प्रकट करने के लिए अनुदात्त स्वर में है।

स्वर का व्यत्यय

श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने 'वैदिक स्वर मीमांसा' के पृष्ठ १६ पर कहा है कि स्वर-व्यत्यय अर्थात् परिवर्तन नहीं होने चाहिएँ। उनका विचार है कि स्वरों में हेर-फेर नहीं किया जा सकता। ऐसा करने से वास्तविक और सूक्ष्म अभिप्राय तक नहीं पहुँचा जा सकता।

अनेक अर्वाचीन भाष्यकार इस प्राचीन मत को स्वीकार नहीं करते।

श्री मीमांसकजी का यह भी कथन है कि "हमारा मत इसके सर्वथा विपरीत है। हम समझते हैं कि वेद में स्वर-व्यत्यय करने की कल्पना करते ही वेद का वास्तविक तथा सूक्ष्म अर्थ लुप्त हो जायेगा।"

हम मीमांसकजी के मत से न केवल असहमत हैं, अपितु इसको त्रुटियुक्त भी मानते हैं। स्वर ही एकमात्र साधन नहीं जिससे वेदार्थ तक पहुँचा जा सकता है। अन्य साधन भी हैं, उनका दर्शन हमने अपनी इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में कराया है। स्वर उन साधनों से अधिक सिद्ध एवं प्रामाणिक नहीं हो सकता।

हमारा मत है कि जिस किसी ने भी सबसे पहले वेदमन्त्रों को पत्रों पर लिखा, उसने ही इन चिह्नों की कल्पना की थी। यह ठीक है कि उसने उस समय के उच्चारण को देखकर ही इनकी कल्पना की होगी। तदपि वे वक्ता और लेखक मनुष्य थे। इस कारण वे सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं हो सकते।

इसके विपरीत हमने जो साधन इस पुस्तक के आरम्भ में दिये हैं वे प्रत्येक अर्थ करनेवाले के लिए विचार और निर्णय का द्वार सदा खुला रखने के लिए है। उनपर सदा विचार और निर्णय होते रहेंगे।

अतः हमारा मत है कि स्वर-विज्ञान भी वेदार्थ समझने का एक साधन है। किन्तु यह उतना प्रबल साधन नहीं है जितना कि देवता, पूर्वापर प्रसंग और तर्क है। अब तो वेदार्थ समझने के लिए दर्शनशास्त्र बन चुके हैं जिनका आधार शुद्ध तर्क ही है। वे वेद का अर्थ समझने में अधिक सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

: ७ :

वेदमन्त्रों के निगम

वेदमन्त्रों में चार प्रकार के निगम कहे गये हैं। एक है 'आख्यात' क्रिया। दूसरे निगम हैं 'द्रव्य' अर्थात् पदार्थ के नाम। किसी वाक्य के नाम और आख्यात ही मुख्य होते हैं। शेष उनके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए सहायक-मात्र होते हैं।

तीसरे प्रकार के निगम हैं 'उपसर्ग'। ये ऊँचे-नीचे, इधर-उधर, समीप-दूर इत्यादि अर्थवाले होते हैं। उपसर्ग नाम तथा आख्यात अर्थ को प्रभावित करते हैं। नीचे हम कुछ उपसर्गों का अर्थ समझाने का यत्न कर रहे हैं—

१. 'आ' यह इधर के अर्थ में आता है। समीप लाने को भी प्रकट करता है।
२. 'अ' और 'परा' ये दोनों ही 'आ' उपसर्ग के विपरीत अर्थवाले हैं।
३. 'अभि' सामने आने को व्यक्त करता है।
४. 'प्रति' 'अभि' के विपरीत अर्थवाला है।
५. 'अति', 'सु' सम्मानित तथा यथाक्रम अर्थ में आता है।
६. 'निर्', 'दुर्', ये 'अति' और 'सु' से विपरीत अर्थवाले हैं। ये निन्दा का अर्थ भी व्यक्त करते हैं।
७. 'नि', 'अव' विनिग्रह अर्थात् पकड़कर नियन्त्रण में रखने के अर्थ वाले हैं।
८. 'उत' यह पद 'नि' तथा 'अव' के विपरीत अर्थवाला है।
९. 'सम' यह एकीभाव अर्थात् एकत्र होने को प्रकट करता है।
१०. 'वि', 'अप' ये दोनों ही 'सम' के विपरीत अर्थात् विलक्षण अर्थ वाले हैं।
११. 'अन' सादृश्य तथा निम्न भाव को कहता है।

१२. 'अपि' यह संसर्ग तथा सम्बन्ध को कहता है। 'भी' शब्द से इसका भाव व्यक्त होता है।

१३. 'उप' यह उपजन को कहता है। स्कन्ध के अनुसार इसका अर्थ ऊपर, टिकना अथवा उपकार करना भी है।

१४. 'परि' सर्वतोभाव अर्थात् सब ओर होने को कहते हैं।

१५. 'अधि' ऊपरी भाव को अथवा ऐश्वर्य को प्रकट करता है।

उपसर्ग, जब नाम तथा क्रिया से पृथक् स्वतन्त्र रूप में आ जाय तो इसके अर्थ निश्चित नहीं होते। वाक्य के भाव के अनुसार हो जाते हैं। अतः उपसर्गों के बहुत अर्थ हो जाते हैं।

चौथी प्रकार के पद हैं 'निपात'। ये अनेक अर्थों में आते हैं। उपमा, कर्मों के एकत्रित करने तथा पद-पूरक के रूप में। पद-पूरक के रूप में ये अर्थहीन ही होते हैं।

इनके विषय में जानने के लिए निरुक्त ग्रन्थ पढ़ना चाहिए।

यहाँ एक बात हम अपनी मान्यता के विषय में भी कह देना चाहते हैं कि अधिकांश भाष्यकारों ने पद-पाठ देते समय प्रत्येक पद के उपरान्त विराम का चिह्न (।) दिया है। हमने उसके स्थान पर लघु विराम (,) चिह्न दिया है।

पद-पाठ में अधिकांश भाष्यकारों ने पद में विग्रह प्रकट करने के लिए ऐसा (ऽ) चिह्न दिया है। हमने इसके स्थान पर पदपाठ में (-) ऐसा चिह्न दिया है। इसका कारण यह है कि (ऽ) चिह्न लुप्त अकार के लिए भी प्रयुक्त होता है। विभ्रम की सम्भावना को ध्यान में रखकर ही हमने ऐसा किया है।

द्वितीय खण्ड

: १ :

दैवत प्रकरण

अग्नि प्रकरण

यास्क ने अपने निरुक्त में दैवत प्रकरण को सातवें अध्याय से आरम्भ किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपने निरुक्त के षष्ठ अध्याय में अग्नि का वर्णन किया है। परन्तु उसने जिस अग्नि का वर्णन किया है वह तो इन्द्र ही है। यह ठीक है कि कहीं-कहीं इन्द्र की शक्ति को अग्नि कहकर सम्बोधित किया गया है, परन्तु वह अग्नि जिसे हम ईश्वरीय शक्ति मानते हैं, इन्द्र से सर्वथा भिन्न है। इन्द्र देवता है, क्योंकि वह प्रकृति की उपज है। ईश्वरीय अग्नि प्रकृति की उपज नहीं है।

इस जगत् में दो प्रकार की शक्तियाँ कार्यरत हैं। एक परमात्मा की शक्ति है और दूसरी परमाणु के अन्तर्गत त्रिगुणात्मक शक्ति। दोनों में वही अन्तर है जो परमात्मा और प्रकृति में है। इस अन्तर को हम इन्द्र के प्रकरण में व्याख्या-सहित समझाने का यत्न करेंगे।

परमात्मा की शक्ति जिसको प्रलयकाल में 'आनीत् अवातम्' कहकर ऋ० १०-१२९-२ में स्मरण किया गया है, वही सृष्टि-रचना के समय 'तेजः' 'अर्वः' 'अश्वाग्नि' आदि नामों से वर्णित है। जगत् के जागृत काल में इसी को 'वैश्वानर अग्नि' के नाम से कहा गया है। यह नाम-भेद इसके कर्म-भेद से सम्बन्धित है। परन्तु 'इन्द्र' और उससे उत्पन्न होने वाली अग्नि, वह जो भी हो, अनेक रूपों में होती है और आदि-अग्नि से सर्वथा पृथक् है।

इस खण्ड का आरम्भ हम ईश्वरीय अग्नि से ही कर रहे हैं। यास्क ने इस अग्नि का वर्णन अपने ग्रन्थ के षष्ठ अध्याय में किया है।

वेदाध्ययन देवताओं के क्रम से करना उपयुक्त होता है। उसके साथ ही वर्णन का क्रम इस प्रकार होना चाहिए कि जिससे उस पदार्थ का, जिसका वर्णन किया जाना है, पहले उसके स्वरूप का वर्णन रात्रिकाल अर्थात्

प्रलयकाल में जैसा हो वैसा किया जावे। उसके बाद रचना और आरम्भ से प्रकट होने का वर्णन हो। तदनन्तर उसके उन कार्यों का कथन हो जो इस कार्य-जगत् की जागृत अवस्था में है। उसका वर्णन कर पुनः इसके प्रलय के समय में लय होने का वर्णन हो।

परन्तु यहाँ तो हम देवताओं का परिचय-मात्र दे रहे हैं। इस कारण इस व्याख्या में हम उसका वर्णन नहीं करेंगे। केवल देवता की पहचान और उसके दो-चार मुख्य कार्यों का ही वर्णन करेंगे।

यही कारण है कि हमने आरम्भ में स्पष्ट कर दिया है कि ईश्वरीय अग्नि देवता नहीं है। तदपि, यह दिव्य गुण-सम्पन्न होने से वर्णन-योग्य मानकर इसका यहाँ पर उल्लेख किया जा रहा है। इसी कारण हमने यह कहा है कि यह इन्द्र नहीं है।

अग्नि और इन्द्र के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए हम दीक्षा-प्रकरण के उपरान्त इस विषय में लिखेंगे। दोनों की तुलना करने के उपरान्त ही यह विषय स्पष्ट हो पाएगा।

यहाँ हम 'अग्नि' के विषय में लिख रहे हैं। ऋग्वेद का आरम्भ अग्नि के वर्णन से किया गया है। ऋग्वेद का प्रथम सूक्त ही अग्नि के सामान्य गुणों के वर्णन के लिए किया गया है।

सूक्त का प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ —ऋ० १-१-१

अन्वय—यज्ञस्य पुरः हितं होतारं ऋत्विजं रत्नधातमम् अग्निं देवं ईळे॥

अर्थ—यज्ञ के समक्ष उपस्थित यज्ञ का होता ऋत्विज् रत्न देनेवाले अग्निदेव की स्तुति करता हूँ।

यज्ञ का अर्थ सृष्टि-रचना-कार्य है। जब यह कार्य आरम्भ हुआ तो अग्नि समक्ष उपस्थित था। जो होता, यज्ञ (अर्थात् सृष्टि-रचना) करनेवाला था, संसार के उपकारी पदार्थ बनानेवाला था, उस अग्नि की मैं स्तुति करता हूँ।

ऋषि कह रहा है कि वह आरम्भ में उस अग्नि की स्तुति करता है, निर्माण-कार्य में जिसका मुख्य हाथ है।

स्तुति का अभिप्राय है पदार्थ के गुण-कर्म-स्वभाव को स्मरण करना और उसका वर्णन करना।

यह वेद का ही मत है कि मानव-सृष्टि के आरम्भ में मुक्त जीव उत्पन्न होते हैं और वे ईश्वरीय ज्ञान सामान्य मनुष्यों को देते हैं। वह ही ऋषि अग्नि के विशेषण बताकर उसकी स्तुति अर्थात् उसके कार्यों का वर्णन करने लगा है।

मन्त्र में एक शब्द है 'रत्नधातमम्'। इसका शाब्दिक अर्थ है रत्न देने वाला। रत्न का अभिप्राय है पृथिवी के अद्‌भुत पदार्थ। सूर्य, चन्द्र, जल, वायु आदि-आदि—सब-कुछ यह अग्नि ही देनेवाला है।

सूक्त का अगला मन्त्र इस प्रकार है—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवां एह वक्षति॥ —ऋ० १-१-२

अन्वय—अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः उत नूतनैः ईड्यः सः देवान् आ इह वक्षति।

अर्थ—अग्नि पहले के ऋषियों द्वारा और नवीन ऋषियों द्वारा स्तुति किया जाने योग्य है। वह देवताओं को यहाँ प्राप्त कराता है।

जिस अग्नि के विषय में पहले मन्त्र में बताया गया था, यहाँ भी उसी अग्नि का वर्णन है कि रचना-यज्ञ के आरम्भ होने के समय वह पहले से ही विद्यमान था। इस मन्त्र में कहा गया है कि उस अग्नि को पहले के ऋषि जानते थे। पहले से अभिप्राय है पूर्व-कल्प के। वेद का अभिप्राय है कि प्रत्येक कल्प के आरम्भ में इस अग्नि के विषय में ऋषिगण जानते थे। कहा गया है कि नवीन ऋषि भी जानते थे। नवीन से अभिप्राय है इस कल्प के आरम्भ में जो उत्पन्न हुए थे।

वेद के इस कथन का अभिप्राय यह है कि जब-जब भी सृष्टि-रचना आरम्भ होती है, ऋषि लोग उत्पन्न होते हैं, जो परमात्मा और उसकी शक्ति अग्नि के विषय में सामान्य लोगों को बताने के लिए जन्म लेते हैं।

सूक्त का अगला मन्त्र इस प्रकार है—

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे।
यशसं वीरवत्तमम्॥ —ऋ० १-१-३

अन्वय—अग्निना दिवे-दिवे पोषम् एव रयिम् वीरवत्तमम् यशसम् अश्नवत्।

अर्थ—दिनानुदिन पालन करनेवाला (यह ईश्वरीय) अग्नि है, जो यश और वीरता प्रदान करनेवाला है।

यह कहा गया है कि मनुष्य में वीरता और यश ईश्वरीय अग्नि के कारण ही होते हैं। परमात्मा मनुष्य को यह उसके कर्मफल के अनुरूप प्रदान करता है। यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिए कि योग्यताएँ तो मनुष्य को परमात्मा उसके पूर्वजन्म के कर्मफल से देता है, परन्तु उस वीरता और यश का प्रयोग मनुष्य वर्तमान जन्म में प्राप्त बुद्धि से करता है।

मन्त्र में इन गुणों के प्रयोग के विषय में कुछ नहीं कहा गया है।

सूक्त का अगला मन्त्र है—

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
स इद्देवेषु गच्छति॥ —ऋ० १-१-४

अन्वय—अग्ने यम् अध्वरम् यज्ञम् विश्वतः परिभूः असि, सः इत् देवेषु गच्छति।

अर्थ—हे अग्ने! जिस दोषरहित यज्ञ को सब स्थान पर व्यापक कर रहे हो, वही देवताओं में जाता है, दिव्य कर्म करता है।

दोषरहित यज्ञ का अभिप्राय है सृष्टि-रचना में अपने नियमों का पालन करते हुए उसको सम्पन्न करना।

सूक्त का अगला मन्त्र है—

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरा गमत्॥ —ऋ० १-१-५

अन्वय—अग्निः होता कविक्रतुः सत्यः चित्रश्रवः तमः, देवः देवेभिः आ गमत्।

अर्थ—अग्नि यज्ञ करनेवाला है। अतिविद्वान् और विचित्र कर्म का करनेवाला है। सदैव सत्य है। 'यह देवताओं द्वारा आता है। वह अग्नि देवताओं के काम करता हुआ जाना जाता है।

वेद में आदि-अग्नि और परमात्मा को भिन्न नहीं माना है। अग्नि परमात्मा की शक्ति है। यह कहा जा सकता है कि आदि-अग्नि परमात्मा का लिंग है। 'लिंग' पदार्थ के उस गुण को कहते हैं जो पदार्थ के साथ सदा रहे और पदार्थ के अतिरिक्त न पाया जाय। इस कारण परमात्मा और अग्नि पर्यायवाचक हैं।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि यह बात भौतिक अग्नि के विषय में नहीं कही गई। भौतिक अग्नि परमात्मा का लिंग नहीं है। इस विषय को हम 'इन्द्र' के अन्तर्गत विस्तार से बतायेंगे। सूक्त का अगला मन्त्र है—

यदङ्गदाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः॥ —ऋ० १-१-६

अन्वय—अङ्ग अग्ने यत् त्वम् दाशुषे भद्रम् करिष्यसि, तव इत् तत् अङ्गिरः सत्यम्।

अर्थ—हे प्रिय अग्ने ! जो तुम देनेवालों का कल्याण करती हो, वह तेरा सत्य में अंगिरस है।

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जब कोई मनुष्य दान-दक्षिणा देता है तो वह तुम्हारा किया हुआ कल्याण ही है। इस कारण तुम ही मनुष्य के अंगों में उसका बल हो।

अंगिरस का अभिप्राय है कि जो शक्ति प्राणी के अंगों में है वह परमात्मा की इस अग्नि के कारण होती है।

शरीर की शक्ति का सीधा सम्बन्ध उन पाँच वायुओं से है जो मनुष्य के शरीर में दिन-रात और आयु-पर्यन्त कार्य करती रहती हैं। उनसे ही शरीर की शक्ति बनती है। वही अंगिरस है। यही परमात्मा की शक्ति है।

इस सूक्त का अगला मन्त्र है—

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि॥ —ऋ० १-१-७

अन्वय—अग्ने वयम् दिवे-दिवे दोषावस्तः धिया त्वा नमः भरन्त उप आ एमसि।

अर्थ—हे अग्ने ! हम दिनानुदिन (रात-दिन) बुद्धि से तुमको नमस्कार करते हैं और तुम्हारी शरण में आते हैं।

मनुष्य जीवन-भर और दिन-रात इस अग्नि से लाभ उठाता रहता है। इस कारण वह उसको नमस्कार करता है। हमने बताया है कि मनुष्य में पाँच वायु चलती हैं। वे हैं—प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान। ये वायुएँ परमात्मा की अग्नि का ही रूप हैं। इनसे ही जीवन चलता है। इस कारण इस मन्त्र में कहा है कि हम दिन-रात परमात्मा को स्मरण करते हैं। उसको नमस्कार करते हैं। अगला मन्त्र है—

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।
वर्धमानं स्वे दमे॥ —ऋ० १-१-८

अन्वय—राजन्तम् अध्वराणाम् गोपाम् ऋतस्य दीदिवम्, स्वे दमे वर्धमानम्।

अर्थ—अपने गृह में वृद्धि करनेवाले की शरण में दिनानुदिन आता हूँ, क्योंकि तुम हमारे यज्ञों में ऋतों की रक्षा करनेवाले हो।

जो भी सर्वहिताय कर्म करते हैं उनमें परमात्मा का ही सहाय होता है। इस कारण ऐसे कार्य की सफलता ईश्वरीय शक्ति के कारण ही होती है।

अगला मन्त्र है—

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये॥ —ऋ० १-१-९

अन्वय—अग्ने सः नः पितेव सूनवे सु उपायनः भव, नः स्वस्तये सचस्व।

अर्थ—हे अग्ने! तुम पिता की भाँति हम पुत्रों को सुलभ होओ। हमको कल्याण से संयुक्त करो।

यह सूक्त अग्नि के विषय को केवल प्रस्तुत ही करता है। इसमें अग्नि के ऐसे कार्यों का ही उल्लेख किया गया है जो हम प्रत्यक्ष में नित्य देखते हैं। कहा है—

१. यह अग्नि रचना-कार्य के समय पहले ही उपस्थित थी, अर्थात् यह सदा से है। इसके बनने के काल का ज्ञान नहीं है।
२. जगत् के अद्‌भुत पदार्थों को यह बनाती है।
३. यह रचना-कार्य यज्ञ है, अर्थात् विश्व के हित में किया गया है। जो कोई भी उस समय उपस्थित थे, उनके हित के लिए ही यह रचना-कार्य किया गया था। इस अग्नि तथा अग्नि के स्वामी परमात्मा के अतिरिक्त दो अन्य पदार्थ भी विद्यमान थे। वे थे प्रकृति और असंख्य जीवात्माएँ।
४. मन्त्र-द्रष्टा ऋषि कह रहा है कि अग्नि पूर्व के ऋषियों को विदित थी और इस कल्प के ऋषियों को भी विदित है, अर्थात् यह अनादि पदार्थ है।
५. इस अग्नि से प्राणियों का पालन होता है और उनमें बल तथा शौर्य का संचार होता है, जिससे उनको यश मिलता है।
६. सृष्टि-रचना का कार्य जिसे यज्ञ कहा गया है वह दोषरहित ढंग से किया जा रहा है, अर्थात् सब कार्य समन्वय से हो रहा है। विरोध और प्रतिरोध नहीं देखा जा रहा है। यही अग्नि देवताओं में दिव्य गुण उत्पन्न करता है।

७. अग्नि का कार्य विद्वत्तापूर्ण कुशलता से होता है और सत्य (कार्य-जगत्) का निर्माण करनेवाला है। इसका कार्य विद्वानों द्वारा जाना जा सकता है।
८. प्राणी के शरीर के अंग-अंग का सार यही अग्नि है, अर्थात् प्राणियों के शरीर का संगठन इस अग्नि द्वारा ही होता है।
९. हम दिन-रात इस अग्नि की शरण में आते हैं, अर्थात् हम इसके आश्रय अपना जीवन चलाते हैं।
१०. यह अग्नि पिता की भाँति सब प्रजाओं का पालन करती है। प्रजाओं से अभिप्राय रचित जगत् के सब स्थावर और जंगम पदार्थ हैं। प्राणी भी इनमें ही आ जाते हैं।

: २ :

आदि-अग्नि प्रकरण

इस अग्नि के विषय में सबसे पहला प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब यह कहा गया कि रचना के समय यह पहले ही विद्यमान था, उस समय यह किस रूप में था और फिर रचना आरम्भ करने के समय इसका क्या रूप हुआ था जिससे कि इसके द्वारा कार्य आरम्भ हो सका था ?

इसके उत्तर में वेद में 'भाववृत्तम्' के विषय पर सूक्त और मन्त्र दिये हैं। एक सूक्त है—ऋ० १०-१२९ । इसका देवता अर्थात् विषय है 'भाव- वृत्तम्' । इसका अभिप्राय है सृष्टि के बनने का वृत्तान्त । इस सूक्त के दूसरे मन्त्र में बताया है कि रचना-पूर्व अग्नि किस रूप में और किसकी संगति में था ।

मन्त्र इस प्रकार है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥

—ऋ० १०-१२९-२

अन्वय—न मृत्युः आसीत् । न तर्हि अमृतम् । रात्र्या अह्न प्रकेतः आसीत् । आनीत् अवातम् स्वधया तत् एकम् तस्मात् परः अन्यत् ह किम् च न आस ॥

अर्थ—रचना से पूर्व न तो कुछ टूट-फूट रहा था, न ही कुछ बन रहा था। रात-दिन का भी कोई चिह्न नहीं था। वहाँ एक शक्ति अचल, स्वधा के साथ थी । उनके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं था ।

इस मन्त्र में बताया गया है कि रचना-कार्य होने से पूर्व केवल दो वस्तुएँ थीं। एक थी अचल शक्ति । अचल शक्ति का अभिप्राय है कि वह शक्ति जो हिलडोल नहीं रही थी, अर्थात् कुछ कार्य नहीं कर रही थी । इसे वर्तमान विज्ञान में स्थितिज ऊर्जा (पोटेंशियल-फॉर्म ऑफ़ एनर्जी) कहते हैं ।

इसके साथ ही एक स्वधा नाम का पदार्थ था । स्वधा का अभिप्राय है ऐसा पदार्थ जो अपने-आपमें स्थित और अचल था। इसका दूसरा नाम

साम्यावस्था में परमाणु है। इसको ही सांख्य में प्रकृति कहा है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। (सां० १-६१)

अर्थात् तीन शक्तियों की सन्तुलित अवस्था को प्रकृति कहते हैं। इस सन्तुलित अवस्था में प्रकृति के परमाणु को ही स्वधा कहा है।

अर्थात् रचना-कार्य से पूर्व शक्ति अचलायमान अवस्था में थी और प्रकृति के परमाणु साम्यावस्था में थे। मन्त्र में कहा है कि इन दो के अतिरिक्त अन्य कुछ दिखाई नहीं देता था।

इसका अभिप्राय है कि इन दो के अतिरिक्त भी किसी अन्य पदार्थ की सम्भावना तो हो सकती है, परन्तु उसको जाना नहीं जा सका।

इन दोनों का भी ज्ञान किस प्रकार हुआ—इस विषय में अगले मन्त्रों में कहा गया है।

सूक्त का अगला मन्त्र है—

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥—ऋ० १०-१२९-३

अन्वय—अग्रे तमसा गूळ्हम् तमः आसीत् सर्वम् इदम् अप्रकेतम् सलिलम् यत् आ आभु तुच्छ्येन अपिहितम् आसीत्। तत् तपसः महिना एकम् अजायत॥

अर्थ—रचना से पूर्व प्रकृति अन्धकार से आच्छादित थी। यह सब चिह्नरहित, तरल अवस्था में, चारों ओर व्यापक, अतिसूक्ष्म अवस्था में थी। तब महान् परिश्रम से एक प्रकट हुआ॥

यह जो प्रकट हुआ वह वही था, जो ऋ० १०-१२९-२ में 'आनीत् अवातम्' कहा गया है। वह सृष्टि-रचना से पहले अचलायमान था और जब रचना आरम्भ हुई तो वही चलायमान हो गया।

चलायमान होकर उसने क्या किया? एक अन्य वेदमन्त्र में इसका वर्णन किया गया है—

यदक्रन्दः प्रथमं जायमानः उद्यन्त्समुद्रादुत् वा पुरीषात्।

—ऋ० १-१६३-१ का पूर्वार्द्ध

अन्वय—यत् अक्रन्दः प्रथमम् जायमानः समुद्रात् उत् यन् उत् वा पुरीषात्॥

अर्थ—जब पहले उत्पन्न हुआ अन्तरिक्ष से ऊपर को उठा तो उसने शोर किया॥

वह जो पहले उत्पन्न हुआ वह वही था जो ऋ० १०-१२९-३ में एक महान् परिश्रम से प्रकट हुआ कहा गया है। यह वह अग्नि था जो ऋ० १-१-१ में रचना के समय सामने (अर्थात् पहले से ही विद्यमान) था। वही यहाँ कहा गया है कि जो पहले प्रकट हुआ।

यहाँ पर यह स्मरणीय है कि संसार में शून्य से कुछ उत्पन्न नहीं होता। अतः सृष्टि-रचनाकार्य में उत्पन्न हुए का अभिप्राय है नये रूप में प्रकट होना। अतः ऋ० १०-१२९-२ में कहा गया 'आनीत् अवातम्' तथा इससे अगले मन्त्र में कहा 'महान्' उत्पन्न हुआ, वही यहाँ कहा है कि उत्पन्न होते समय घोर शोर मचाता हुआ अन्तरिक्ष से ऊपर को उठा।

उसके उपरान्त क्या हुआ, यह अगले मन्त्र में कहा है—

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात् सूरादश्वं वसवो निरतष्ट॥ —ऋ० १-१६३-२

अन्वय—यमेन दत्तम् त्रितः अयुनक् एनम् प्रथमः इन्द्रः अधि अतिष्ठत्। गन्धर्वः अस्य रशनाम् अगृभ्णात् सूरात् अश्वम् वसवः निः अतष्ट॥

अर्थ—नियन्त्रण करनेवाले परमात्मा की दी हुई लगाम त्रित ने जोप ली, स्वीकार कर ली। इस त्रित पर पहले इन्द्र अधिष्ठित था। नियन्त्रण में आये परमाणु-त्रित ने उसकी लगाम (आधीनता) स्वीकार कर ली। बलवान् (परमात्मा) से अश्व (अर्वः अर्थात् प्राण) को वसुओं (परमाणुओं) पर ठहरा दिया।

अर्थात् जब अग्नि शोर मचाती हुई अन्तरिक्ष में ऊपर को उठकर फैल गई तो वह त्रित पर लगाम की भाँति सवार हो गई। त्रित का अभिप्राय है—सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था में प्रकृति।

मन्त्र में कहा है कि बलवान् नियन्त्रण करनेवाले की लगाम परमाणु ने स्वीकार कर ली।

उसके उपरान्त क्या हुआ? यह इसी सूक्त के अगले मन्त्र में वर्णन किया है। उस विषय में हम आगे चलकर बतायेंगे। उससे पूर्व इस विषय पर प्रकाश डालने के लिए हम दो अन्य मन्त्र उद्धृत करना चाहते हैं। जब अग्नि परमाणु पर आरूढ़ हो गई, उसके बाद क्या हुआ, इस विषय पर इन मन्त्रों में प्रकाश डाला गया है। एक मन्त्र है—

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः।
रोचन्ते रोचना दिवि॥ —ऋ० १-६-१

अन्वय—परि तस्थुषः ब्रध्नम् अरुषम् युञ्जन्ति। दिवि रोचना रोचन्ते॥

अर्थ—सब ओर से स्थिर (विरोध न करनेवाले) प्रकाशमान से जुड़ते हैं। अन्तरिक्ष में प्रकाशित हो चमकने लगते हैं।

इस मन्त्र का देवता इन्द्र है। मन्त्र में कहा गया है कि जो चारों ओर स्थिर थे। स्थिर क्या थे? स्पष्ट है कि चारों ओर प्रकृति के साम्यावस्था में परमाणु शान्त और अचल अवस्था में थे। उनका चमकने तथा विरोध न करने वाले (अग्नि) से संयोग हो गया।

यह वही बात है जो ऋ० १-१६३-२ में कही है कि परमात्मा की शक्ति (अर्वः) परमाणु पर लगाम की भाँति आरूढ़ हो गई। तब कहा है कि प्रकाशमान अर्वः से संयुक्त होकर परमाणु चमक उठे। दूसरा मन्त्र है—

युञ्जन्ति अस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे।
शोणा धृष्णू नृवाहसा॥ —ऋ० १-६-२

अन्वय—युञ्जन्ति अस्य रथे काम्या हरी विपक्षसा। शोणा धृष्णू नृवाहसा॥

अर्थ—तब इसके रथ में कामना करते हुए दो घोड़े दोनों पक्ष में जुड़ जाते हैं। चमकते हुए दृढ़ता से रथ में बैठे को बहा ले-जानेवाले हैं।

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जब परमात्मा का ओज परमाणुओं से जुड़ जाता है तब रथ अर्थात् परमाणु को दो घोड़े जुड़ जाते हैं और दृढ़ता से परमाणु के साथ जुड़े हुए दो घोड़े परमाणु में उपस्थित उपादान पदार्थ को लिये हुए चल पड़ते हैं। दो घोड़े हैं परमाणु के भीतर की सत्त्व तथा रजस्-शक्तियाँ। ये परमाणु के साथ दृढ़ता से जुड़े हुए परमाणु को लिये हुए इधर-उधर चल पड़ते हैं। परमाणु उनके साथ होता है।

इसका अभिप्राय यह है कि असाम्यावस्था में आने पर परमाणु इनके घोड़ों के साथ अन्तरिक्ष में विचरने लगते हैं।

इसके परिणामस्वरूप जो कुछ हुआ वह अगले मन्त्रों में कहा गया है।

अगला मन्त्र है—

असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि॥
—ऋ० १-१६३-३

अन्वय—अर्वन् यमः असि आदित्यः असि गुह्येन व्रतेन त्रितः असि।

सोमेन समया विपृक्तः असि ते आहुः त्रीणि दिवि बन्धनानि ॥

अर्थ—हे अर्वन्! तू (यम-नियन्त्रण) कर्त्ता है, तू प्रकाशस्वरूप है और तुम्हारे सम्मुख गुप्त नियन्त्रण में बँधा हुआ त्रित है।

त्रित की साम्यावस्था फट गई। तब कहते हैं कि तीन प्रकार के बन्धन (संयोग) द्युलोक में बन जाते हैं।

इससे अगला मन्त्र है—

त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन् यत्रा त आहुः परमं जनित्रम्॥

—ऋ० १-१६३-४

अन्वय—ते आहुः त्रीणि बन्धनानि दिवि त्रीणि अप्सु समुद्रे अन्तः। उत इव मे वरुणः छन्त्सिः अर्वन्। यत्र ते आहुः परमम् जनित्रम्॥

अर्थ—वे तीन निबन्धन द्युलोक में (वही) तीन अपः में तथा अन्तरिक्ष में बन जाते हैं। हे अर्वन्! मेरा छन्द (मात्र) वक्ता [वरुण] कहलाता है। इसपर वे कहते हैं कि उनसे जगत् बना।

इन दो मन्त्रों में यह बताया गया है कि जब इन्द्र की त्रिगुणात्मक शक्ति परमाणु से बाहर चारों ओर कामनाभरी दृष्टि से घूमने लगती है तो परमाणु परस्पर संयुक्त होने लगते हैं। तब उनके बड़े-बड़े संयोग अर्थात् गुच्छे बन जाते हैं। इन्द्र की तीन प्रकार की शक्ति का आवेश एक-एक पर होने से ये तीन प्रकार के ही हुए।

ये निबन्धन दिव्य हैं और द्युलोक में बनते हैं। इन्द्र की शक्ति का इनपर लेप होने से ये दिव्य होते हैं। इनको अपः कहते हैं।

एक पर सत्त्व-शक्ति का लेप होता है। इसको वर्तमान विज्ञान में धन (+) विद्युत् कहते हैं। दूसरे पर रजस्-शक्ति का लेप होता है। इसे वर्तमान विज्ञान में ऋण (-) विद्युत् कहते हैं। तीसरी प्रकार के निबन्धन तमस् आवेशवाले होते हैं, अर्थात् उनपर किसी प्रकार की शक्ति का लेप नहीं होता। वर्तमान विज्ञान में यह शून्य (०) विद्युत् कही जाती है। ये निबन्धन इन

विद्युत्-आवेशों के कारण किस प्रकार निबन्धन बनते हैं, वे चित्रवत् नीचे दिये गये हैं—

इस चित्र में जो गोलाकार दिखाया गया है वह परमाणु का प्रतीक है। तीरों का मुख शक्ति के कार्य की दिशा को दिखाता है। इस चित्र में तीनों प्रकार की शक्ति परमाणु के भीतर ही सन्तुलित प्रकट की गई है। यह परमाणु की साम्यावस्था को प्रकट करता है।

इस चित्र में शक्ति के मुख बाहर को हैं। यह परमाणु पर अग्नि के लगाम बन सवार होने से होता है। तीनों शक्तियाँ इन्द्र कहाती हैं। परमाणु असाम्यावस्था में हैं।

अब नीचे निबन्धन बनने की विधि को चित्रित करने का यत्न किया जा रहा है।

इस चित्र में धन और ऋण विद्युत् परस्पर निःशेष हो रही दिखाई गई है। प्रत्येक परमाणु की शून्य अर्थात् तमस्-शक्ति बाहर को देख रही है। यहाँ निबन्धन शून्य शक्ति के लेपवाला है। इस कारण निबन्धन तमस् अथवा सोम कहा जाता है, वर्तमान विज्ञान में यह न्यूट्रोन कहा जाता है।
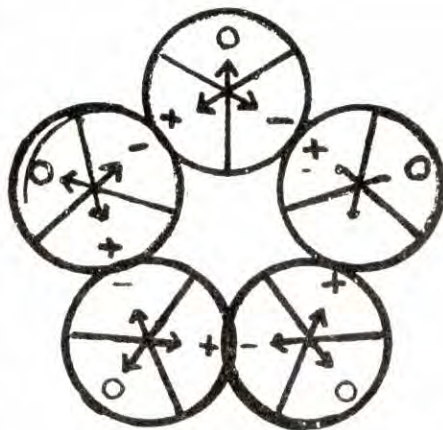
इस निबन्धन में शून्य-शक्ति और रजस्-शक्ति परस्पर निःशेष हो रही हैं। प्रत्येक परमाणु में केवल धन-शक्ति ही स्वतन्त्र रह गई है, जो बाहर को
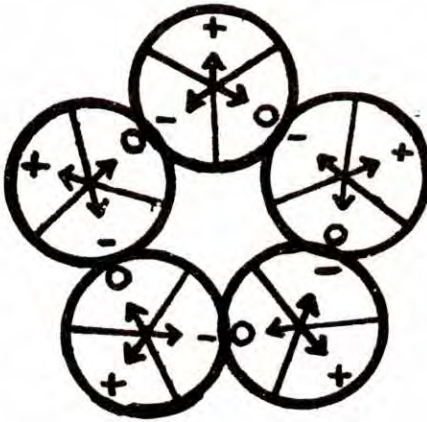
देख रही है। इस कारण निबन्धन पर धन-शक्ति का लेप है। यह वर्तमान विज्ञान में प्रोटोन कहाता है।

इस चित्र में बने निबन्धन में शून्य और ऋण- शक्तियाँ परस्पर निःशेष हो रही दिखाई गई हैं। प्रत्येक परमाणु पर केवल रजस्-शक्ति ही स्वतन्त्र है, जो बाहर को देख रही है। ऐसे निबन्धन को वर्तमान विज्ञान में इलेक्ट्रोन कहा जाता है।

इन निबन्धनों के वैदिक नाम मित्र, वरुण और अर्यमा कहे हैं। अर्यमा का ही दूसरा नाम सोम कहा गया है।
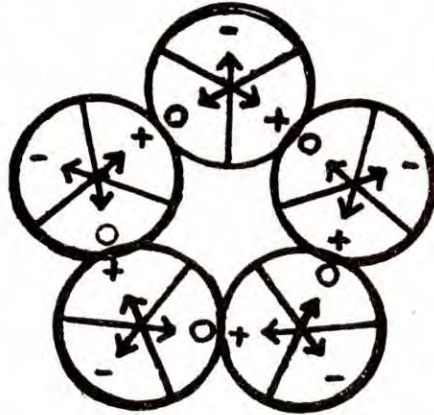
अदर्शि गातुरुरवे वरीयसी पन्था ऋतस्य
समयंस्त रश्मिभिश्चक्षुर्भगस्य रश्मिभिः
द्युक्षं मित्रस्य सादनमर्यम्णो वरुणस्य च।
अथा दधाते बृहदुक्थ्यं वय उपस्तुत्यं बृहद् वयः॥ —ऋ० १-१३६-२

अन्वय—गातुः वरीयसी उरवे अदर्शि ऋतस्य पन्थाः रश्मिभिः भगस्य चक्षुः रश्मिभिः सम अयंस्त। मित्रस्य अर्यम्णः च वरुणस्य द्युक्षम् सादनम्। अथ उक्थ्यम् दधाते बृहत् वयः उपस्तुत्यं बृहत् वयः॥

अर्थ—फैलने की योग्यतावाली बहुत फैलती हुई दिखाई देती है। ऋतों, प्राकृतिक नियमों के मार्गों पर शोभायमान रश्मियों से संयुक्त होकर विख्यात हो जाती है। मित्र, अर्यमा और वरुण के रहने का स्थान द्युलोक है, और कहे

जाने वाले बहुत-से भण्डार से स्तुति किये जाने योग्य और दिये जाने योग्य है।

इस मन्त्र में यह बताया गया है कि प्रकृति (जो बहुत फैलने की योग्यता रखती है) जब रश्मियों की लपेट में आ जाती है तो तीन प्रकार के निबन्धन बन जाते हैं और उनके नाम मित्र, वरुण और अर्यमा हैं।

इस अध्याय में हमने बहुत ही संक्षेप में परमेश्वर की शक्ति (आदि-अग्नि) के प्रकट होने का वर्णन किया है। हमने यह भी बताया है कि उस समय प्रकृति की क्या अवस्था थी, किस प्रकार ईश्वरीय प्रेरणा से अग्नि सजग होता है और वह परमाणुओं पर लगाम की भाँति आरूढ़ हो जाता है, उससे परमाणु के भीतर बैठा इन्द्र बहिर्मुख होकर किस प्रकार कार्य करने लगता है। इसके कार्य से परमाणुओं के तीन प्रकार के निबन्धन बन जाते हैं। इन निबन्धनों से जगत् का निर्माण होता है। जब अग्नि परमाणु पर आरूढ़ होता है तब उसका नाम वैश्वानर अग्नि हो जाता है। यह इस कारण कि तब यह अग्नि विश्व के पदार्थों का नेता बन जाता है।

वैश्वानर अग्नि के विषय में हम अगले अध्याय में वर्णन करेंगे।

वैश्वानर अग्नि भी वेदमन्त्रों का देवता है।

: ३:

वैश्वानर-अग्नि प्रकरण

वैश्वानर-अग्नि आदि-अग्नि अर्थात् ईश्वरीय प्राण का एक रूप ही है। इसका एक रूप 'आनीत् अवातम्' कहा है। दूसरा रूप 'अर्वः' कहकर वर्णन किया गया है। वैश्वानर-अग्नि तीसरा रूप है।

ब्रह्मसूत्र में इस अग्नि के विषय में स्पष्ट रूप से कहा है—

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्।—ब्र० सू० १-२-२४

अर्थ—वैश्वानर साधारण शब्द है। परन्तु इसका अर्थ विशेष होने से इसे (विशेष) समझना चाहिए।

इसका अभिप्राय यह है कि यह साधारण अग्नि नहीं। विशेष अग्नि एक ही है और वह है जिससे संसार की रचना हुई है।

आगे कहा गया है—

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति। —ब्र० सू० १-२-२५

अर्थ—अनुमान से यह जाना जाता है कि यह वही (आदि-अग्नि) है।

ऐसा अनुमान इस कारण किया गया, क्योंकि इसको विशेष कहा गया है। विशेष इस कारण कि इसके विशेष गुण हैं।

सामान्य अग्नि को वेद में 'जातवेदा अग्नि' के नाम से कहा गया है। अग्नियाँ दो प्रकार की हैं—एक आदि-अग्नि और दूसरी जातवेदा। लकड़ी इत्यादि से जलनेवाली अग्नि को जातवेदा कहते हैं। बादलों में अथवा अन्य प्रकार से विद्युत् आदि से प्राप्त अग्नि को भी जातवेदा ही कहा गया है। ये सब इन्द्र के रूप हैं। इन्द्र जड़ प्रकृति का अंग होने से बिना मनुष्यादि के जलाने के प्रदीप्त नहीं होता। ईश्वरीय अग्नि का जलाना अथवा बुझाना मनुष्य के बस का नहीं है।

ब्रह्मसूत्र में आगे कहा गया है—

शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न, तथादृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते। —ब्र० सू० १-२-२६

अन्वय—शब्दादिभ्यः अन्तः प्रतिष्ठानात् च न इति चेत् न तथा दृष्टि उपदेशात् संभवात् पुरुषम् अपि च इनम् अधीयते।

अर्थ—वेद शब्द द्वारा कहे जाने से कि जगत् के प्रत्येक पदार्थ के भीतर प्रतिष्ठित होने से। ऐसा परमात्मा हो सकता है।

अन्त में सूत्रकार कहता है—

अत एव न देवता भूतं च। —ब्र० सू० १-२-२७

अर्थ—इस कारण यह न देवता है और न भूताग्नि।

कहा है कि यह देवता नहीं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि इसमें अन्य दिव्य पदार्थों की भाँति दिव्यगुण नहीं। तदपि, यह अग्नि वेदमन्त्रों में वर्णित विषय है। इस कारण उस दृष्टि से इसे देवता (मन्त्रों का एक विषय) कहा गया है।

वेद में वैश्वानर-अग्नि के विषय का अनेक स्थान पर वर्णन किया गया है। इसके विषय में एक मन्त्र है—

आ सूर्य्ये न रश्मयो ध्रुवासो वैश्वानरे दधिरेऽग्ना वसूनि।
या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु या मानुषेष्वसि तस्य राजा॥

—ऋ० १-५९-३

अन्वय—अग्ना वैश्वानरे वसूनि आ दधिरे ध्रुवासः रश्मयः सूर्ये न। या पर्वतेषु ओषधीषु अप्सु या मानुषेषु तस्य राजा असि॥

अर्थ—सबके नेता अग्नि (वैश्वानर-अग्नि) निर्मित पदार्थों में चारों ओर से आकर स्थापित होओ, जैसे सूर्य में रश्मियाँ स्थित होती हैं। जो पर्वतों में, ओषधियों में, मनुष्यों में (अभिप्राय यह कि सब निर्मित पदार्थों में) राजा की भाँति स्थित है।

इसमें भी यही कहा है कि वैश्वानर-अग्नि संसार के सब पदार्थों में ऐसे स्थित है, जैसे राजा अपने राज्य में स्थित होता है। अभिप्राय यह कि यह सर्वव्यापक परमात्मा का ही रूप है।

इसी विषय पर एक अन्य सूक्त है—

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण॥

—ऋ० १-९८-१

अन्वय—वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम हि कम् अभि श्रीः भुवनानाम् राजा। इतः वैश्वानरः जातः इदम् विश्वम् वि चष्टे सूर्येण यतते॥

अर्थ—वैश्वानर की शुभ मति (संरक्षण) में हम होवें। निश्चय से वह नक्षत्रों में राज करता है सुख और कल्याण के लिए। यह वैश्वानर उत्पन्न हुआ इस सबको देखता है। सबको नियन्त्रण में रखता है और बलयुक्त होने से कार्य करता है।

इस मन्त्र में भी यह बताया गया है कि वैश्वानर-अग्नि राजा की भाँति जगत् के सब पदार्थों में विद्यमान है और बल से युक्त है।

इसी सूक्त का अगला मन्त्र है—

पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वा ओषधीराविवेश।
वैश्वानरः सहसा पृष्टो अग्निः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम्॥

—ऋ० १-९८-२

अन्वय—अग्निः दिवि पृष्टः पृथिव्याम् पृष्टः विश्वा ओषधीः पृष्टः आ विवेश। वैश्वानरः अग्निः सहसा पृष्टः सः नः दिवा नक्तम् सः रिषः पातु॥

अर्थ—दिव्य गुणवाली अग्नि पृथिवी को, सब ओषधियों को, वनस्पतियों को छूती है और उनमें प्रवेश करती है, उनमें कार्य करती है। वैश्वानर-अग्नि बल से युक्त है। वह दिन और रात हिंसकों से हमारी रक्षा करे।

इस मन्त्र में कहा है कि वैश्वानर-अग्नि जगत् के सब पदार्थों को छूती है। एक अन्य मन्त्र के अर्थ में हम बता चुके हैं कि अर्वः अग्नि परमाणुओं पर लगाम बनकर स्थित हो जाता है। दोनों का एक ही अभिप्राय है।

इन दोनों मन्त्रों से पता चलता है कि जब आरम्भ में अग्नि सुषुप्ति-अवस्था से जागृत होता है तो उसका प्रथम कार्य यह है कि वह परमाणुओं पर लगाम की भाँति आरूढ़ हो जाता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वह लगाम तब हटती है जब सृष्टि का विघटन होता है और वह पुनः परमाणुरूप हो जाती है।

इस सूक्त में तीसरा मन्त्र भी इसी सम्बन्ध में है—

वैश्वानर तव तत् सत्यमस्त्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥

—ऋ० १-९८-३

अन्वय—वैश्वानर तव तत् सत्यम् अस्तु अस्मान् रायः मघवानः सचन्ताम्। नः तत् न मित्रः वरुणः अदितिः मामहन्ताम् सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः।

अर्थ—हे वैश्वानर ! तुम्हारा कार्य (सफल) हो और उसमें तेरा धन (असाम्यावस्था में प्रकृति) संयुक्त हो। पृथिवी और सूर्य हमारा पालन करें।

यह अग्नि इस प्रकार कार्य कर रही है जिससे जगत् चल रहा है।

वैश्वानर अग्नि का जो वृत्तान्त वेद में मिलता है वह इस प्रकार है—

१. यह आदि और सदा रहनेवाली अग्नि है।
२. रचना में आदि-अग्नि का प्रथम कार्य है अन्तरिक्ष में फैलकर परमाणुओं पर लगाम बन उनका नियन्त्रण करना।
३. रचना पर अग्नि का यह नियन्त्रण-कार्य रचना के अन्त तक चलता है।
४. रचना-आरम्भ में इन्द्र, जो साम्यावस्था में परमाणु के भीतर बैठा जुड़ा हुआ था, बाहर की ओर देखने लगता है। वह परमाणु से जुड़ा हुआ ही रचना-कार्य करने लगता है।

इन्द्र से मित्र और वरुण उत्पन्न होते हैं, जिनसे सब जगत् के पदार्थ बनते हैं।

यह अग्नि प्रकृति के प्रत्येक परमाणु पर प्रलयकाल तक आरूढ़ रहती है।

: ४ :

इन्द्र

(१)

सृष्टि-रचना में आदि-अग्नि के उपरान्त इन्द्र के कार्य का अधिक महत्त्व है। ऋग्वेद में सबसे अधिक मन्त्र इन्द्र के विषय पर हैं। यहाँ तक कि अग्नि के विषय में इन्द्र से कम मन्त्र हैं। इसका यह अभिप्राय है कि यद्यपि अग्नि का कार्य अधिक महत्त्व का है, परन्तु जगत् में कार्य का विस्तार इन्द्र का अधिक है।

अग्नि का संक्षिप्त वर्णन हमने पूर्व के अध्याय में कर दिया है। इस अध्याय में हम वेद में कहे के अनुसार इन्द्र का संक्षेप में वर्णन करेंगे। इसके उपरान्त अग्नि और इन्द्र में अन्तर बताते हुए अग्नि की महत्ता का वर्णन करेंगे।

इस खण्ड के प्रथम अध्याय में ही हम यह बता आये हैं कि प्रलय-काल में इन्द्र साम्यावस्था के परमाणु में प्रतिष्ठित था। वहीं पर हमने यह भी बताया है कि जब आदि-अग्नि परमाणु पर लगाम बनकर सवार होता है तब इन्द्र की त्रिगुणात्मक शक्ति बहिर्मुख हो जाती है।

हमने वहाँ यह भी बताया है कि इन्द्र के तीन गुणों—सत्त्व, रजस् और तमस् में से दो, सत्त्व और रजस् बहुत शक्ति के स्वामी होते हैं और सृष्टि-रचना में अति महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं।

इन्द्र का तीसरा गुण है तमस्। यह यद्यपि आवेश-रहित होता है, परन्तु यह मनुष्य और जगत् के अन्य रचित पदार्थों के लिए अत्यावश्यक है। इतना तो हम अग्नि के प्रकरण में बता आये हैं। इसका अग्नि के कार्य से सम्बन्ध था। अब हम इन्द्र के विषय में वेद का मत बतायेंगे। इतना तो पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि तीन शक्तियाँ जब एक-समान गुणवाली आमने-सामने आ जाती हैं तो वे एक-दूसरे को विकर्षित करती अर्थात् दूर-दूर धकेलती हैं

और जब विपरीत गुणवाली आमने-सामने आती हैं तो परस्पर आकर्षित करती हैं।

यही व्यवहार वर्तमान युग की विद्युत् में देखा जाता है। दो ऋण-विद्युत्-युक्त कण अथवा दो धन-विद्युत्-युक्त कण आमने-सामने आ जायें तो परस्पर विकर्षित करने, अर्थात् एक-दूसरे को दूर-दूर धकेलने लगते हैं। जब एक ऋण-विद्युत्-कण एक धन-विद्युत्-कण के समक्ष आ जाय तो वे परस्पर आकर्षित करने लगते हैं। इस कारण परमाणुओं में जब सत्त्व, रजस् आमने-सामने आते हैं तो परमाणुओं में गति उत्पन्न हो जाती है। इस गति का परिणाम यह होता है कि परमाणु परस्पर संयुक्त होने लगते हैं। इसके परिणामस्वरूप परमाणुओं के निबन्धन बन जाते हैं।

यह हम ऊपर ऋ० १-१६३-२, ३, ४ में अग्नि के वर्णन के अवसर पर बता आये हैं। वहाँ हमने यह भी बताया है कि ये निबन्धन तीन प्रकार के हैं। निबन्धनों के ये तीन प्रकार उनके छोटे अथवा बड़े होने के नहीं किये गये हैं, अपितु उनके आवेश के विचार से किये गये हैं। उनका विशद वर्णन हमने चित्र बनाकर स्पष्ट कर दिया है। वहाँ हमने यह भी बताया है कि इन तीन प्रकार के निबन्धनों से जगत् की रचना हुई है।

हमने इन निबन्धनों के नाम भी ऋ० १-१३६-२ के कथन के अनुसार मित्र, वरुण और अर्यमा बताये हैं। अर्यमा का दूसरा नाम भी ऋग्वेद के मन्त्र १-१३६-४ में बताया गया है। वह नाम है सोम।

वहाँ मन्त्र में कहा है—

अयं मित्राय वरुणाय शन्तमः।
सोमो भूत्ववपानेष्वाभगो देवो देवेष्वाभगः॥

—ऋ० १-१३६-४

अन्वय—अयम् शन्तमः सोमः मित्राय, वरुणाय भूतु आ भगः अवपानेषु देवो देवेष्वाभगः।

अर्थ—ये अत्यन्त शान्त सोम मित्र और वरुण के लिए, ग्रहण किये हुए ऐश्वर्यवान् होवें।

यहाँ सोमों को अर्यमा के स्थान पर कहा है।

अतः अभी तक पूर्व-अध्याय में बताये अनुसार हमने इन्द्र के विषय में यह बताया है—

१. इन्द्र परमाणु के भीतर छिपी त्रिगुणात्मक शक्ति है। उन

शक्तियों के नाम हैं—सत्त्व, रजस् और तमस्।

२. सृष्टि-रचना के आरम्भ में आदि-अग्नि परमाणु पर लगाम की भाँति आरूढ़ हो जाता है। उस समय भीतर छिपा हुआ इन्द्र प्रकट हो जाता है।

३. इन्द्र की तीनों शक्तियाँ प्रकट होने पर परमाणु को छोड़ती नहीं। वे परमाणु के साथ दृढ़ता से जुड़ी रहती हैं। (ऋ० १-६-२) परमाणु के चारों ओर कामनाभरी दृष्टि से देखने लगती हैं।

कामनाभरी दृष्टि का अर्थ है कि विपरीत प्रकार की शक्ति से मिलने की इच्छा करने लगती हैं। इसका परिणाम होता है कि परमाणुओं के निबन्धन बनने लगते हैं।

वर्तमान विज्ञान में भी यह माना जाता है कि रचित जगत् के सब पदार्थ एक सौ से कुछ अधिक परिमण्डलों से बने हैं और ये एक सौ प्रकार के परिमण्डल केवल तीन प्रकार के कणों से बने हैं। इसका यह अभिप्राय है कि वैदिक भाषा के मित्र, वरुण और अर्यमा वर्तमान विज्ञान के तीन प्रकार के एटम कण (एटॉमिक पार्टिकल्स) ही हैं। इससे यह सहज ही ज्ञान हो जाता है कि वैदिक परिभाषा का मित्र वर्तमान इलेक्ट्रोन है। मित्र पर रजस्-आवेश शेष होता है और रजस्-आवेश के ही अणु को इलेक्ट्रोन कहते हैं। अतः मित्र इलेक्ट्रोन हैं।

इसी प्रकार वरुण पर सत्त्व-आवेश शेष होता है। सत्त्व आवेश को धन- विद्युत् (पॉज़िटिव इलेक्ट्रिसिटी) कहते हैं। धन-विद्युत् के आवेशवाला एटॉमिक कण वर्तमान विज्ञान में प्रोटोन कहा जाता है। अर्यमा तथा सोम आवेशरहित हैं। वर्तमान विज्ञान में आवेशरहित एटॉमिक कण को न्यूट्रोन कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अर्यमा न्यूट्रोन है।

इन्द्र के विषय में इतनी जानकारी तो पहले ही दी जा चुकी है। अब आगे हम इन्द्र के विशेष कार्यों का संक्षेप में वर्णन कर रहे हैं।

इस विषय पर ऋग्वेद का पूरा एक सूक्त ही है। उस सूक्त के कुछ मन्त्र हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं।

सूक्त का प्रथम मन्त्र है—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान् क्रतुना पर्य्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥

—ऋ० २-१२-१

अन्वय तथा अर्थ—यः मनस्वान् एव प्रथमः जातः ।

जो मन के गुणों वाला पहले ही पैदा हुआ ।

देवः देवान् क्रतुना परि-अभूषत् ।

दिव्य गुणों वाला सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ ।

यस्य शुष्मात् रोदसी अभ्यसेताम् नृम्णस्य मह्ना ।

जिसके बल से पृथिवी और आकाश भयभीत रहतें हैं अथवा पृथक्-पृथक् होते हैं । जिसके बल से यह (मन) महत्त्वपूर्ण है । उसे इन्द्र जानो ।

इस मन्त्र में कहा है कि यह सबसे पहले प्रकट हुआ । प्रकृति के पदार्थों में यह पहले पैदा हुआ था । यह भी कहा है कि मन के गुणों वाला है । मन (चित्त) स्मृति-यन्त्र है । वर्तमान युग के कम्प्यूटर एक प्रकार के स्मृति-यन्त्र ही हैं ।

आगे कहा गया है कि इसके बल से पृथिवी और आकाश डरते हैं और पृथक्-पृथक् होते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि जब हिरण्यगर्भ फटा था और उस समय सूर्य पृथिवी से पृथक् हुआ था, तब वह इन्द्र की शक्ति से ही पृथक् हुआ था ।

अगला मन्त्र है—

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहयः पर्वतान्प्रकुपितां अरम्णात् ।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः ॥

—ऋ० २-१२-२

अन्वय—यः व्यथमानाम् पृथिवीम् अदृंहत् यः प्रकुपितान् पर्वतान् अरम्णात् । यः वरीयः अन्तरिक्षम् विममे यः द्याम् अस्तभ्नात् सः जनास इन्द्रः ॥

अर्थ—जो चलती हुई पृथिवी को सुदृढ़ करता है, जो प्रकुपित पर्वतों को स्थिर (शान्त) करता है, जो विशाल अन्तरिक्ष को रचता है, जो द्युस्थान को स्थापित करता है उसे इन्द्र जानो ।

पृथिवी की अनेक गतियाँ हैं और इन गतियों में पृथिवी को स्थिर करने वाला इन्द्र ही है ।

पर्वतों को स्थिर करनेवाले से अभिप्राय है कि ज्वालामुखियों को शान्त करनेवाला इन्द्र ही है । अन्तरिक्ष को रचने से अभिप्राय है कि अन्तरिक्ष के पदार्थों का निर्माण करनेवाला इन्द्र ही है ।

इन्द्र क्या-क्या करता है, उसके कार्यों का ही विशद वर्णन इस सूक्त में

किया गया है।

इस पुस्तिका में इन मन्त्रों का संकेत करने का अभिप्राय केवल यही है कि पाठक इन्द्र के विषय में भली प्रकार ज्ञान प्राप्त कर इन्द्र देवता वाले मन्त्रों का अर्थ तदनुसार सुगमता से कर सकें।

ऋग्वेद के इस सूक्त में कहे गये इन्द्र के कार्यों में से कुछ कार्य हैं—

१. इन्द्र देवताओं में सबसे पहले प्रकट हुआ था।
२. यह पृथिवी और उसपर सब पदार्थों को स्थिर करता है।
३. यह परिमण्डल (एटम) निर्माण करता है और बड़े-बड़े परिमण्डलों को तोड़कर छोटे-छोटे परिमण्डल बनाता है।
४. यह भू-आकर्षण में कारणभूत है।
५. चुम्बकीय शक्ति भी इन्द्र का ही कार्य है।
६. मरुतों (मोलिक्यूल्स) के बनानेवाला भी यही है और फिर मरुतों से स्थूल पदार्थ भी इसी के द्वारा बनते हैं।
७. जहाँ यह तोड़-फोड़ करता है वहाँ यह निर्माण भी करता है।
८. प्राणियों में मन और इन्द्रियों की शक्ति इसके ही कारण है।
९. सूर्य की प्रकाश-किरणों और ऊष्मा की किरणों का जन्मदाता यह इन्द्र ही है। इनको वेदों में यम यमी कहा गया है।
१०. पुरुषों में इन्द्र का ही बल होता है। यह भले अथवा बुरे दोनों में ही समान रूप से होता है। मनुष्य की भलाई-बुराई से इस बल का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।
११. बादलों में विद्युत् का चमकना और बादल का गर्जन इन्द्र के कारण ही होता है। भूतल पर विद्युत्, जिससे मनुष्य उद्योग-धन्धे चला रहा है, वह सब इन्द्र की शक्ति के कारण ही प्रकाश है।
१२. लकड़ी, कोयला इत्यादि में जो अग्नि है वह इन्द्र की ही शक्ति है। इसे रासायनिक शक्ति कहते हैं।

: ५ :

इन्द्र

(२)

इन्द्र-विषयक वर्णन को पूर्ण करने से पूर्व हम इन्द्र के दो महत्त्वपूर्ण कार्यों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक समझते हैं। ये कार्य हैं परिमण्डलों का बनना तथा मरुतों का निर्माण होना।

वर्तमान विज्ञान में परिमण्डल को एटम कहते हैं। मरुत का नाम वर्तमान विज्ञान में मोलिक्यूल है।

यद्यपि परिमण्डल के निर्माण का वर्णन वेद में किया गया है, तदपि यह शब्द वैदिक नहीं है। इस नाम के वेद में न होने का कारण यह है कि वेद में सब प्रकार के परमाणुओं को, जो बड़े कण हैं उन सबको अणु कहते हैं। परिमण्डल आपः के संयोग से बनते हैं। इस कारण आपः और परिमण्डल को अणु ही माना है।

परिमण्डलों के संयोग से मरुत बनते हैं। वैदिक भाषा में वे भी अणु ही हैं। इन सब प्रकार के अणुओं में से आपः और मरुतों का विशेष कथन है। उसका कारण यह है कि सृष्टि-रचना में इनका विशेष कार्य है। आपः और मरुत, देवता भी माने जाते हैं।

यह वस्तुस्थिति है कि परिमण्डल का अस्तित्व एक-एक नहीं होता। वे दो अथवा दो से अधिक ही रह सकते हैं। इस कारण वे अणुओं की गणना में ही आये हैं। परिमण्डलों के दो-दो अथवा अधिक समूह स्थायी रूप में रह सकते हैं। वे मरुतों की श्रेणी में ही आते हैं।

वैशेषिक दर्शन में परिमण्डल शब्द का वर्णन है। ब्रह्मसूत्र में भी परिमण्डलीय गति का उल्लेख पाया जाता है। वैशेषिक दर्शन में इस गति से ही परिमण्डल नाम लिया है। वैसे आपः, परिमण्डल और मरुत ये तीनों ही अणु हैं।

वर्तमान विज्ञान में परिमण्डल (एटम) का वर्णन बहुत विस्तार से मिलता है। इसके बनने की प्रक्रिया वेद के ऋ० १-३२ में विस्तार से की गई है। यहाँ हम इस सूक्त के कुछ मन्त्र देना चाहते हैं।

प्रथम मन्त्र है—

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम्॥

—ऋ० १-३२-१

अन्वय—इन्द्रस्यनु प्रथमानि वीर्याणि प्र वोचम् यानि वज्री चकार। अहिम् अहन् अनु अपः अभिनत् पर्वतानाम् प्र वक्षणा ततर्द॥

अर्थ—इन्द्र वज्रधारी ने प्रथम शौर्य का कार्य अहि को नष्ट करने का किया। अहि को मारकर निम्न कोटि के अपः पर आघात कर गाँठोंवाली के वक्षों को तोड़-फोड़ दिया।

यह उस समय की स्थिति का वर्णन है जब ऋ० २-१६३-३,४ के अनुसार असाम्यावस्था के परमाणुओं के निबन्धन बन जाते हैं। उस समय कुछ निबन्धन, विशेषरूप में सोम आपः के, बहुत बड़े-बड़े बन जाते हैं। उसका कारण तो यहाँ वर्णन नहीं किया गया है। सम्भवतः उसका कारण उनका आवेश-रहित होना है।

कारण चाहे कुछ भी क्यों न हो, परन्तु जब ये बड़े-बड़े निबन्धन बन जाते हैं तो जगत् के विभिन्न प्रकार के पदार्थों के बनने में सहायक नहीं होते। यह ऐसे ही है जैसे किसी भवन के विभिन्न अंगों के बनाने में छोटी-छोटी ईंटें ही सहायक होती हैं, बड़ी-बड़ी ईंटें उपयुक्त नहीं होतीं।

इन बड़े-बड़े निबन्धनों को तोड़ने का कार्य इन्द्र करता है। यहाँ यह बताया गया है कि इन्द्र का यह कार्य उसकी वीरता का प्रथम कार्य है।

जो इन्द्र इस कार्य को करता है उसको वज्रधारी कहा गया है। इन्द्र के दो ही शक्तिशाली अंग है—मित्र और वरुण, अर्थात् इलेक्ट्रोन और प्रोटोन। इनमें मित्र अधिक तीव्र शक्ति का स्वामी होता है। इसका द्रव्यमान बहुत कम होता है, परन्तु आवेश उतना ही होता है, जितना कि बहुत बड़े वरुण का है। इसके अतिरिक्त आकार में छोटा होने और चलायमान होने के कारण यह प्रहार करने में समर्थ होता है।

इस कारण मित्र-आपः वज्र की भाँति कार्य करता है। सोम अर्थात् अर्यमा के बहुत बड़े-बड़े निबन्धन तोड़ने में मित्र वज्र का कार्य करता है।

इस मन्त्र में अहि शब्द का उल्लेख है। अहि का अर्थ सर्प होता है। यहाँ पर अभिप्राय कुण्डली मारकर बैठे हुए सर्प के घेरे से है। अर्यमा तथा वरुणों के गुच्छों को कुण्डली कहा है।

पर्वत का नाम गाँठें भी है।

वज्र के प्रहार का अभिप्राय है कि ऋण-विद्युत् का आघात धन-विद्युत् के कणों पर अथवा आवेशरहितों पर होता है।

सूक्त का दूसरा मन्त्र है—

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्रा: इव धेनवः स्यन्दमाना अंजः समुद्रमव जग्मुरापः॥

—ऋ० १-३२-२

अन्वय—अहिम् अहन् पर्वते शिश्रियाणाम् त्वष्टा अस्मै स्वर्यम् वज्रम् ततक्ष। स्यन्दमानाः आपः समुद्रम् अंजः अव जग्मुः वाश्राः इव धेनवः॥

अर्थ—कुण्डली को तोड़ दिया। गाँठोंवाले में आश्रय लिये हुए को (मुक्त करा दिया)। त्वष्टा ने इन्द्र के चलाने के लिए अच्छा वज्र बनाया है। चलते हुए आपः-तुरंग अन्तरिक्ष को प्राप्त होते हैं; जैसे बछड़े को प्रीतिपूर्वक चाहती हुई गाय (बछड़े की ओर जाती है)।

यहाँ अहि (कुण्डली) से अभिप्राय है वरुणों का घेरा। इनपर धन-आवेश होता है। इनकी ओर मित्र (ऋण आवेशवाले) आकर्षित हो आकर टकराते हैं। घेरा अर्थात् कुण्डली टूट जाती है और उसमें घिरे हुए सोम-आपः बह निकलते हैं।

तीसरा मन्त्र है—

वृषायमाणो ऽवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत् सुतस्य।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम्॥

—ऋ० १-३२-३

अन्वय—वृषायमाणः सोमम् अवृणीत सुतस्य त्रिकद्रुकेषु अपिबत्। मघवा सायकम् वज्रम् आ अदत्त एनम् प्रथमजाम् अहीनाम् अहत्॥

अर्थ—पुष्ट सोम को वरा (अर्यमा को ग्रहण किया) सन्तान का (निर्मित पदार्थों का) त्रिगुणात्मक व्यवहार किया (स्वीकार किया)। इन्द्र ने शक्तिशाली वज्र को लिया। कुण्डलियों के इस पहले चक्र को तोड़ दिया।

इस मन्त्र का अभिप्राय है कि जहाँ हीन-आपः के चारों ओर वरुण कुण्डली बना लेते हैं वहाँ भी इन्द्र का वज्र अर्थात् मित्र-आपः उनको तोड़

डालता है। साथ ही यह भी कहा है कि मित्र-आपः सोमों को पीता जाता है, अर्थात् उनको अपने घेरे में लेता जाता है।

इस प्रकार सोमों के लिए वरुण और मित्र में संघर्ष चलने लगता है। इस संघर्ष का जो अन्तिम रूप प्रकट होता है, उसको इसी सूक्त के मन्त्र-संख्या दस में वर्णित किया गया है।

मन्त्र-संख्या दस इस प्रकार है—

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥

—ऋ० १-३२-१०

अन्वय—आपः अतिष्ठन्तीनाम् अनिवेशनानाम् काष्ठानाम् मध्ये निहितम् निण्यम् शरीरम् वि चरन्ति। वृत्रस्य इन्द्रशत्रुः तम वि चरन्ति दीर्घम् शयत्॥

अर्थ—आपः अस्थिर मार्गों पर जानेवाले चलायमान सीमावर्ती देश में रहनेवालों के मध्य में स्थित है हीनों का शरीर। इन्द्र के शत्रु वृत्र का आवेशरहित (अंश) घोर निद्रा में सोता है।

पूरे सूक्त (ऋ० १-३२-१०) में वर्णित संघर्ष का परिणाम बता दिया है कि मित्र-आपः सीमा पर अस्थिर और बदलती गतियों से चलते हुए हो गए हैं। उनके मध्य में शरीर (कोर) है हीन-आपः का। ये हीन-आपः हैं सोम अर्थात् अर्यमा। ये इन्द्र के विरोधी वृत्रों के अधीन हैं और वहाँ शान्त सोये हुए हैं।

यदि इसको चित्रित करें तो कुछ इस प्रकार का रूप बनेगा—

यह एक परिमण्डल (एटम) का चित्र है।
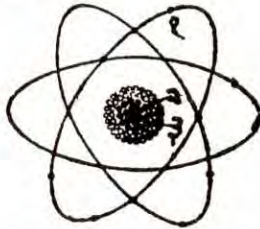
इससे अगला मन्त्र इस प्रकार है—

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां विलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद् ववार॥

—ऋ० १-३२-११

अन्वय—दास-पत्नीः अहिगोपाः आपः निरूद्धाः अतिष्ठन् पणिना इव गावः। यत् अपाम् विलम् अपि-हितम् आसीत् तत् वृत्रम् जघन्वान् अप तत् ववार ॥

अर्थ—शरण में आये हुओं की रक्षा करनेवाली कुण्डली (वरुणों का घेरा) रुकी हुई ठहरी है। जैसे गौओं के रक्षक उनको रोके रखते हैं। जब (वरुणों की कुण्डली ने) अपाओं को बन्द कर रखा था, बिल के भीतर तब इन्द्र ने वज्र से कुण्डली को तोड़ा तो बिल के भीतर से (सोम) बह निकले।

इस मन्त्र में एटमों के आइसोटोप्स बनने की प्रक्रिया बताई है। यह कहा है कि सोमों के चारों ओर बनी वरुणों की कुण्डली को इन्द्र मित्र-आपः से तोड़ देता है। जब कुण्डली टूट जाती है तो उसमें रुके हुए सोम बह निकलते हैं।

इस प्रसंग में मित्रों (इलेक्ट्रोन) और वरुणों (प्रोटोन्स) की संख्या तो कम नहीं होती, सोमों की संख्या कम हो जाती है। इससे परिमण्डल का भार तो कम हो जाता है परन्तु उसके रासायनिक गुणों में अन्तर नहीं आता।

परिमण्डलों में द्रव्यमान मुख्यतया सोमों के कारण होते हैं। जब सोम निकलकर बह जाते हैं तो परिमण्डल के रासायनिक गुण नहीं बदलते, परन्तु परिमण्डल का भार भिन्न हो जाता है।

आजकल कृत्रिम रूप में भी आइसोटोप्स बनाने में सफलता प्राप्त कर ली गई है। इस कारण बहुत-से ऐसे परिमण्डल हैं जिनके भार तो भिन्न-भिन्न हैं परन्तु रासायनिक गुण समान हैं।

अब यह स्पष्ट किया जा सकता है कि अनादि-अग्नि और इन्द्र में क्या अन्तर हैं। अनादि-अग्नि जिसे प्राण, तेज, अश्व, अर्वः, अग्नि, वायु, मातरिश्वा और वैश्वानर अग्नि के नामों से स्मरण किया गया है, वह कहीं पर भी मनुष्य के अधीन कार्य करती देखी नहीं गई। इस अग्नि को मानव न तो प्रदीप्त कर सकता है और न ही शान्त कर सकता है।

इसके विपरीत इन्द्र को प्राण और अग्नि के रूप में स्मरण किये जाने पर भी मनुष्य उसको जाग्रत और शान्त कर सकता है। आज वैज्ञानिक इन्द्र की शक्ति पर आधिपत्य प्राप्त कर विशाल और महान् औद्योगीकरण करने में सफल हो गये हैं।

इन्द्र प्रकृति का परिणाम है। शाश्वत अग्नि प्रकृति का परिणाम नहीं है। यह अग्नि प्रकृति पर नियन्त्रण करता देखा जाता है।

सूर्य की जो किरणें पृथिवी पर आती हैं वह इन्द्र की ही शक्ति है। प्रकाश, ऊष्मा, सोम अन्न के रूप में जो सूर्य से धाराओं में पृथिवी पर आ रहे हैं वह इन्द्र की ही शक्ति है। परन्तु सूर्य केवल प्रकृति का अंश ही नहीं। यह प्रकृति और अनादि अग्नि के संयोग का परिणाम है। वेद में इस बात को स्पष्ट किया गया है। तदपि सूर्य-किरणें तो शुद्ध प्रकृति का ही परिणाम हैं।

अग्नि परमात्मा नहीं, अपितु परमात्मा का लिंग है। परमात्मा आत्मतत्त्व है, परन्तु अग्नि शक्ति का ही रूप है।

यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन्द्र की शक्ति परमाणु से दृढ़ता से जुड़ जाती है। इसे वर्तमान वैज्ञानिकों की भाषा में क्वान्टम एनर्जी कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि शक्ति परमाणु से संयुक्त रहती है। परन्तु अनादि-अग्नि परमाणु से पृथक् अपना अस्तित्व रखती है। यह जब परमाणु से पृथक् होती है तब भी रहती है। वर्तमान वैज्ञानिकों को इसका भास हो गया है। वे इसको गामा रे (Y-Ray) कहते हैं।

: ६ :

मरुत देवता

मरुत के विषय में भाष्यकारों ने बहुत-कुछ ऐसा भी कहा है जो कि युक्तियुक्त नहीं है। स्वामी दयानन्द ने मरुत से मनुष्य का अभिप्राय ग्रहण किया है। मरुत शब्द का अर्थ है मरणशील। यही स्थिति अन्य भाष्यकारों की है।

स्वामीजी ने इन्द्र के अर्थ भी अधिकांशतया राजा ही किये हैं। जहाँ पर वज्र से प्रहार की बात आई है वहाँ इन्द्र (राजा) को शत्रुओं की सेना से युद्ध करते हुए प्रकट किया है। इसी प्रकार वृत्र का अर्थ शत्रु कर दिया है।

वृत्र की व्युत्पत्ति 'वृ' धातु से है। 'वृ' का अर्थ 'वरण' अर्थात् 'छाजन' होता है। अभिप्राय है वरण करनेवाले या ढाँपनेवाले वृत्र हैं।

इसी प्रकार मरुत की उत्पत्ति भी 'मृ' धातु से होती है। 'मृ' हिंसायाम्। हिंसा-योग्य तो जगत् के सब पदार्थ हैं। जो बनते हैं वे टूटते भी हैं। इस कारण यह तो वेदमन्त्रों में देखना होगा कि मरुत किन मरणशील पदार्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

वेद के माध्यम से यदि मरुत का अभिप्राय जानना हो तो उसके लिए ऋ० १-६ सूक्त सहायक हो सकता है। इस सूक्त में दस मन्त्र हैं। प्रथम तीन मन्त्रों का देवता इन्द्र है। चौथे मन्त्र का देवता मरुत है और पाँचवें मन्त्र का 'मरुतइन्द्रश्च' है। मन्त्र ६ का देवता मरुत है। मन्त्र सात का देवता 'मरुतइन्द्रश्च' है। मन्त्र आठ और नौ का देवता मरुत है और मन्त्र दस का देवता इन्द्र है।

इसका अभिप्राय यह है कि इस सूक्त में मरुत और इन्द्र का परस्पर सम्बन्ध बताया गया है। इन मन्त्रों का अध्ययन करके देखना चाहिए कि इन्द्र और मरुत का परस्पर क्या सम्बन्ध है? यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिए कि इन्द्र के विषय में हम बता चुके हैं कि यह परमाणु के अन्तर्गत त्रिगुणात्मक शक्ति है।

हमने ऋ० १-१६३-२ की व्याख्या में बताया है कि इन्द्र प्रकृति की साम्यावस्था में परमाणु के भीतर छिपा हुआ था। परमाणु की अनादि शक्ति अग्नि के उसपर लगाम बनकर आरूढ़ हो जाने पर इन्द्र परमाणु से बाहर को झाँकने लगता है। इसके तीन गुण—सत्त्व, रजस्, तमस्, बहिर्मुख हो जाया करते हैं। इन गुणों के बहिर्मुख हो जाने के कारण परमाणुओं के निबन्धन बन जाते हैं। ये निबन्धन ऋ० १-१६३-२ के अनुसार मित्र, वरुण और अर्यमा बताये गये हैं। मन्त्र ऋ० १-१६३-४ के अनुसार अर्यमा सोम को भी कहते हैं। अब हम जानने का यत्न कर रहे हैं कि इन्द्र और मरुतों का कुछ सम्बन्ध है अथवा नहीं? यदि सम्बन्ध है तो वह कैसा और क्या है?

इस कार्य में ऋ० १-६ सूक्त हमारी सहायता करता प्रतीत होता है। वह इस कारण कि इसमें इन्द्र के विषय पर, इन्द्र और मरुत के संयुक्त विषय पर और फिर मरुत के विषय पर साथ-साथ मन्त्र दिये हैं।

सूक्त १-६ के प्रथम दो मन्त्र हम अग्नि के प्रकरण में दे चुके हैं। उन दो मन्त्रों में बताया गया है कि जब परमाणु ईश्वर की शक्ति अग्नि से जुड़ जाते हैं तो प्रकाशमान अर्थात् सजग हो जाते हैं। उस समय परमाणुओं को इन्द्र के दो घोड़े उनके दो ओर होकर इधर-उधर ले-जाने लगते हैं। इस प्रकार उनके गतिशील होने से परमाणुओं के निबन्धन बन जाते हैं।

सूक्त का तीसरा मन्त्र है—

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे।
समुषद्भिः अजायथाः॥ —ऋ० १-६-३

अन्वय—मर्या अकेतवे केतुम् कृण्वन् अपेशसे पेशो। उषद्भिः सम् अजायथाः।

अर्थ—निष्क्रिय को क्रियाशील करता हुआ (सुषुप्त को जागृत करता हुआ) अरूपवान् का रूपवान् (करनेवाला हो गया)। किरणों द्वारा संयोग से उत्पन्न हुए।

मन्त्र-संख्या दो में कहा गया है कि इन्द्र की दो सक्रिय शक्तियाँ (जिन्हें घोड़े कहा गया है) परमाणुओं को लेकर इधर-उधर चलने लगीं और परमाणुओं को जोड़ने लगीं। इस प्रक्रिया में परमाणुओं के संयोग अर्थात् निबन्धन क्रियाशील और रूपवान् हो गये।

इन उपरिलिखित दोनों मन्त्रों में जो प्रक्रिया वर्णन की गई है वह ऋ० १-१६३-३, ४ में वर्णित हैं। वहाँ बताया गया है कि जब परमाणु के भीतर

की शक्ति बहिर्मुख हो जाती है तो परमाणुओं में गति उत्पन्न होने के कारण परमाणुओं के निबन्धन बन जाते हैं। इस सूक्त में इस ओर ही संकेत किया गया है।

ये निबन्धन हैं—मित्र, वरुण और अर्यमा (अर्थात् सोम)। इनके परस्पर संघर्ष का वर्णन ऋ० १-३२ सूक्त में किया गया है। इस संघर्ष का परिणाम मन्त्र १-३२-१० में वर्णन किया गया है। वहाँ कहा गया है कि परिमण्डल बन जाते हैं। ये परिमण्डल ही अकेतु से केतु और अरूपवान् से रूपवान् हो जाते हैं। ये परिण्डल ही प्रकृति के प्रथम व्यक्त परिणाम हैं।

मन्त्र-संख्या १-६-३ में बताया गया है कि मित्र और वरुण की रश्मियों द्वारा ये परिमण्डल उत्पन्न हो गये।

हम यह बता रहे हैं कि परमाणु से आपः बने। किन्तु वे उस समय स्वरूपवान् और क्रियाशील नहीं थे।

वेद में कहा गया है कि परमाणुओं के निबन्धन जो क्रियाशील हुए और रूपवान् भी हुए, वे मरुत ही थे। इस विषय में आगे चलकर विस्तार से बतायेंगे।

इस सूक्त का अगला मन्त्र मरुत के विषय पर है—

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे।
दधाना नाम यज्ञियम्॥ —ऋ० १-६-४

अन्वय—आत् अह स्वधाम् अनु पुनः गर्भत्वम्रिरे। नाम यज्ञियम् दधाना॥

अर्थ—अब यह निश्चय ही है कि प्रकृति को पुनः गर्भस्थिति प्राप्त होती है। यह यज्ञ करने की योग्यता को धारण करती है।

इससे पूर्व के मन्त्र में बताया था कि मित्र और वरुण की किरणों द्वारा ये (मरुत) बने थे।

इस मन्त्र में कहा गया है कि तब प्रकृति पुनः गर्भ की स्थिति में हो जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि मरुतों की अवस्था में प्रकृति पुनः गर्भ की स्थिति में हो जाती है। प्रकृति की साम्यावस्था में भी वह गर्भ की स्थिति में थी। इसका अर्थ यह है कि प्रकृति मूलावस्था में अपनी सारी ऊर्जा अपने भीतर छिपाये हुई थी।

प्रकृति की शक्ति है इन्द्र। वह शक्ति उस अवस्था में प्रकृति के भीतर ही निःशेष हो रही थी। इसका वर्णन सांख्यदर्शन में इस प्रकार किया गया

है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। (सां० १-६१)

इस मन्त्र में इसको प्रकृति की गर्भ-अवस्था कहा है, अर्थात् प्रकृति की समूची शक्ति (इन्द्र) इसके गर्भ में छिपी हुई थी।

वेद कहता है कि इसी प्रकार मरुत में वह शक्ति जो बाहर थी, मरुत के भीतर ही छिप जाती है। इसको गर्भ की स्थिति कहा गया है।

वर्तमान विज्ञान ने मोलिक्यूल का भी ऐसा ही वर्णन किया है। इन्द्र के तीनों गुण मरुत के भीतर सन्तुलित हो जाते हैं।

जब परमाणु साम्यावस्था से असाम्यावस्था में हुआ तो इन्द्र की त्रिगुणात्मक शक्ति बहिर्मुख हो गई, अर्थात् वह शक्ति गर्भ से बाहर हो गई। इससे निबन्धन, अर्थात् आपः बने। वे भी सत्त्व, रजस् और तमस् शक्तियों से लिप्त थे। इसका वर्णन हम इसी खण्ड के द्वितीय अध्याय में कर चुके हैं।

आपः में भी शक्ति बाहर ही को देखती थी। वह गर्भित अवस्था में नहीं थी।

आपः से परिमण्डल बने। उनमें भी शक्ति गर्भित अवस्था में नहीं थी। वेद में कहा है कि जब परिमण्डलों से मरुत बनते हैं तो शक्ति पुनः वैसे ही गर्भित हो जाती है, जैसे स्वधा की मूल स्थिति में थी।

वर्तमान विज्ञान में भी ऐसा ही माना जाता है। वर्तमान विज्ञान आपः से अधिक सूक्ष्म स्थिति को अभी नहीं जान सके। आपः, जिनको वे एटॉमिक पार्टिकल कहते हैं, आवेशयुक्त होते हैं। कुछ ऋण-विद्युत् में लिप्त होते हैं। उनको इलेक्ट्रोन कहते हैं। वैदिक भाषा में इनको मित्र कहा गया है। इनपर ऋण-आवेश होता है।

दूसरे आपः वर्तमान विज्ञान में प्रोटोन कहाते हैं। इनको वैदिक भाषा में वरुण कहा जाता है। इनपर धन-आवेश होता है।

तीसरे आपः आवेशरहित हैं। ये वर्तमान विज्ञान की भाषा में न्यूट्रोन कहाते हैं। वैदिक भाषा में ये अर्यमा तथा सोम कहाते हैं। हमारा अभिप्राय है कि आपः इलेक्ट्रोन और प्रोटोन भी शक्ति को बाहर दिखाते हैं।

आपः से परिण्डल (एटम) बनते हैं। ये भी आवेशयुक्त होते हैं। कुछ पर ऋण और कुछ पर धन आवेश होता है। धन-आवेशवाले परिमण्डल धातुवर्ग कहाते हैं। उदाहरण के रूप में हाइड्रोजन, लोहा, रांगा इत्यादि के एटमों पर धन-विद्युत् है। इसी कारण इनको लिखते समय (H',Fe',Sn') ऐसा

लिखते हैं। इन पर (') ऐसे चिह्न से अभिप्राय एक मात्रा धन-विद्युत् का आवेश है।

उदाहरण के रूप में जल में हाइड्रोजन का एक अणु (H'_2) ऐसा लिखा जाता है। इसपर एक मात्रा का अभिप्राय है कि इसके एक अणु में एक मात्रा में धन-विद्युत् का आवेश है। इसी प्रकार ऑक्सीजन अपने पर ऋण-आवेश वाला होता है। इसके एक अणु पर दो मात्रा में ऋण-आवेश होता है और इसको चिह्नों में ऐसे—O"–लिखा जाता है। यह देखा गया है कि परिमण्डलों को जब वस्तु के रूप में प्राप्त किया जाता है तो वह वस्तु आवेशरहित होती है।

उदाहरण के रूप में—हाइड्रोजन का एक अणु आवेशयुक्त होता है, इसी कारण यह ऑक्सीजन के अणु से संयुक्त हो सकता है। परन्तु हाइड्रोजन गैस तो आवेशरहित होती है। अतः यह माना जाता है कि हाइड्रोजन, ऑक्सीजन इत्यादि अणु जब वस्तु के रूप में होते हैं तो वे दो-दो अथवा अधिक अणु संयुक्त अवस्था में दिखाये जाते हैं। अतः हाइड्रोजन गैस को चिह्नों में लिखने के लिए (H_2) दो अणु इकट्ठे लिखे जाते हैं। इसी प्रकार ऑक्सीजन का एक अणु–O'–इस प्रकार लिखा जाता है। परन्तु ऑक्सीजन गैस को O_2 लिखा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि परिमण्डलों के अणु तो आवेशयुक्त होते हैं, परन्तु परिमण्डल वस्तु के रूप में अणु आवेशरहित होते हैं।

प्रकृति की साम्यावस्था भंग होने के उपरान्त बननेवाले आपः और उनसे बनने वाले परिमण्डल, ये सब आवेशयुक्त होते हैं, अर्थात् उनकी शक्ति बाहर को प्रत्यक्ष हो रही होती है। परन्तु वेद कहता है कि एक मरुत (मोलिक्यूल) में प्रकृति की शक्ति पुनः गर्भस्थ हो जाती है। वर्तमान विज्ञान भी ऐसा ही मानता है। उदाहरण के रूप में हाइड्रोक्लोरिक एसिड के एक कण में हाइड्रोजन और क्लोरीन दो प्रकार के परिमण्डल संयुक्त होते हैं। अतः हाइड्रोक्लोरिक एसिड के एक अणु की बनावट में प्रक्रिया इस प्रकार लिखेंगे—HC_1।

हाइड्रोक्लोरिक अणु में आवेश नहीं होता। इस कारण उसपर किसी भी आवेश का चिह्न नहीं लिखा जाता। (˙) बिन्दु का चिह्न ऋण-विद्युत् का चिह्न है, और (') इस प्रकार की रेखा का चिह्न धन-विद्युत् का निश्चय किया गया है।

यही बात ऋ० १-६-४ में प्रकट की गई है। कहा है कि मरुत (मोलिक्यूल) बनने पर प्रकृति की त्रिगुणात्मक शक्ति गर्भस्थ हो जाती है।

इसी सूक्त का अगला मन्त्र इस प्रकार है—

वीळु चिदारुजत्नुभिः गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः।
अविन्द उस्त्रिया अनु॥ —ऋ० १-६-५

अन्वय—चित् इन्द्र गुहा वीळु चित् आरुजत्नुभिः वह्निभिः। अविन्द उस्त्रिया अनु॥

अर्थ—और इन्द्र गुहा में दृढ़ (बलवान् होता हुआ) और (जब) गुहा को फोड़कर अग्नि के द्वारा तब बहती हुई (विद्युत्-धारा) अवस्था को प्राप्त करता है।

यह उस अवस्था का वर्णन है जब ड्राई बैटरी का बटन दबाने से विद्युत् धारा के रूप में बह निकलती है।

इस मन्त्र का देवता भी 'मरुतइन्द्रश्च' है, अर्थात् मरुत और इन्द्र दोनों। इस मन्त्र में भी इन्द्र और मरुत दोनों का सम्बन्ध बताया गया है।

उपसंहार

हमने वेदमन्त्रों से उनके देवता को जानकर उनके विषय में ज्ञान प्राप्त करने के कुछ उदाहरण दिए हैं। ऐसा करने के लिए अग्नि (अनादि अग्नि), वैश्वानर अग्नि, इन्द्र और मरुत के उदाहरण लिये हैं। इसी प्रकार अन्य देवताओं के विषय में भी किया जा सकता है। पहले देवता अर्थात् मन्त्र का विषय जान लेना चाहिए। देवता का अभिप्राय जान लेने के उपरान्त ही मन्त्रार्थ करना चाहिए।

यहाँ पर हम इतना और स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि शौनक के अनुसार मन्त्रों के देवता मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों ने निर्धारित किये हैं। यदि यह ठीक है तो मन्त्र-द्रष्टा [ऋषि] मन्त्रों के भाव को ठीक-ठाक जाननेवाले माने जाते हैं। तब इन देवताओं में हेर-फेर नहीं हो सकता।

वैसे तो हम नहीं कहते कि मनुष्य की बुद्धि पर ताला लगा दिया जाए। वेद में तथा दर्शनशास्त्रों में तर्क को प्रमुख माना गया है। किन्तु हमारा यह मत है कि मन्त्र-द्रष्टाओं द्वारा किये गए निश्चय को बदलने से पहले बारम्बार विचार कर लेना चाहिए और वेद के अन्य भागों से प्रमाण लिये बिना मन्त्रों के देवता में हेर-फेर करने का कोई कारण नहीं है, अर्थात् मन्त्रों के देवता को तद्रूप ही रहने देना चाहिए।

प्रमाणानामनुक्रमणिका

*

सुप्रसिद्ध विद्वान एवं विचारक श्री गुरुदत्त की
गीता की विवेचना में दो अनुपम रचनाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता

सरल सुबोध भाषा	एक अध्ययन
मूल्य : रु 85-	मूल्य : रु 85-

जिस जाति को धरोहर में गीता का ज्ञान मिला हो, उस जाति के घटक आज मरने से भयभीत हों तो यह आश्चर्य की बात है। इसका मुख्य कारण यह है कि हम गीता को ऐसा ज्ञान मानते हैं जिसकी आवश्यकता वृद्धावस्था में मृत्यु के किनारे बैठे हुए पड़ती है। जो कि गलत मान्यता है।

वास्तव में गीता-ज्ञान मनुष्य को कर्म-क्षेत्र में उतरने के समय मिलना चाहिए। गीता मुख्यतया कर्मयोग का ज्ञान है।

भगवद्गीता के ज्ञान की शुद्ध विवेचना में लिखी ये रचनाएँ अनुपम हैं।

हिन्दी साहित्य सदन
2 बी डी चैम्बर्स, 10/54 डी बी गुप्ता रोड़
करोल बाग, नई दिल्ली - 05